अपना विकास आप कीजिए

सन्तराम वत्स्य

अपना विकास आप कीजिए

सन्तराम वत्स्य

मानव धर्म के दस सिद्धांतों का सरल-सुबोध परिचय
कराने वाली एक जीवनोपयोगी रोचक पुस्तक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३ दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं :
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : १२.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३ दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : १९८४ / सर्वाधिकार : सन्तराम वत्स्य / चोपड़ा प्रिंटर्स, मोहन पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२ में मुद्रित। [10.1-22-484/N]

APNA VIKAS AAP KIJIYE (Seet Improvement) by Santram Vatsya
Price : Rs. 12.00

विषय-सूची

धैर्य (धीरज) / १

क्षमा / ९

दम (इंद्रियों को वश में रखना) / १९

अस्तेय (चोरी न करना)) / २६

शौच (पवित्रता) / ३९

इन्द्रिय-निग्रह (संयम) / ४७

धी अर्थात् बुद्धि / ५७

विद्या / ६५

सत्य / ६९

अक्रोध (क्रोध न करना) / ७६

धैर्य (धीरज)

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय ।।

मानव धर्म के दस लक्षणों में मनु महाराज ने सबसे पहला स्थान 'धैर्य' को दिया है। ऐसा लगता है कि मानव धर्म के विशाल भवन को खड़ा करने के लिए दृढ़ नींव के रूप में ही धैर्य को स्थान मिला है। यह तो सभी जानते हैं कि जितना बड़ा भवन बनाना हो, नींव उतनी ही दृढ़ बनानी पड़ती है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य की सफलता में धैर्य की आवश्यकता होती है।

'धैर्य' का अर्थ हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए। 'धैर्य' अर्थात् 'धीरज'। धीरज का सहायक गुण है 'उत्साह'। और उत्साह का सहायक गुण है धीरज। 'उत्साह' को जोश भी कह सकते हैं। प्रायः देखने में आता है कि युवकों में 'उत्साह' खूब होता है पर 'धीरज' नहीं होता। धीरज के अभाव में उत्साह आता है और झट चला भी जाता है।

नगर में किशोरों का एक दंगल हुआ। छात्र बड़ी संख्या में इस दंगल को देखने आए थे। एक नाटे कद और गठीले बदन के किशोर पहलवान ने अपने से ड्योढ़े लम्बे और वजन में दुगने पहलवान को

जब अखाड़े में चित कर दिया तो दर्शकों में तालियों की गड़गड़ाहट और वाह-वाह का शोर मच गया। विजेता को विजय-माला पहनाई गई और अलग से पुरस्कार भी मिला। नेताओं के साथ फोटो खिंचे जो दूसरे दिन अखबारों में छपे। साथ ही 'बाल केसरी' की उपाधि भी मिली।

इस दंगल से प्रेरणा लेकर कितने ही छात्रों ने दूसरे दिन से सवेरे उठकर मालिश करना और दण्ड-बैठक लगाना प्रारंभ कर दिया। जिनके घर के पास अखाड़े थे, वे अखाड़ों में जाने लगे। पर कुछ दिनों में यह जोश ठण्डा हो गया।

नगर में विदेश से आई हुई टीम के साथ क्रिकेट का मैच हो रहा था। इसमें भारत की विजय हुई। अब आप गली-मुहल्ले और मैदान में जहाँ भी देखेंगे, आपको बालक क्रिकेट खेलते दिखाई देंगे। यह जोश भी कुछ दिनों के बाद ठण्डा पड़ जाएगा। यह बात बालकों की ही तरह बड़ों पर भी ज्यों-की-त्यों लागू होती है।

विद्यालय में तो सारा कार्य सुनिश्चित समय-विभाग के अनुसार होता ही है। एक दिन प्रार्थना के बाद मुख्याध्यापक महोदय ने अपने भाषण में छात्रों को बताया कि वे घर पर भी समय-सारणी बनाकर कार्य करें तो समय का अधिक सदुपयोग हो सकता है तथा प्रत्येक छात्र की कार्य-क्षमता बढ़ सकती है।

यह बड़ा उपयोगी सुझाव था और अधिकांश छात्रों ने निश्चय किया कि वे घर पर भी समय-सारणी के अनुसार कार्य करेंगे। इसके लिए पहले यह आवश्यक था कि प्रातः उठने का समय निश्चित हो। छात्रों ने उसका भी निश्चय किया और किसीने घड़ी में अलार्म लगाकर रखा और किसीने माताजी को कहा कि प्रातः इतने बजे उठा दें। यह क्रम कुछ दिन तो ठीक चला, किन्तु फिर ढीला पड़ता गया और अन्त में पहले ही की तरह कोई क्रम नहीं रहा।

जिस बाल्टी की तली में छेद हो तो उसे जब आप कुएं के पानी से ऊपर खींचेंगे तब तो वह भरी हुई होगी, किन्तु ऊपर, आप के हाथ में आने तक उसका बहुत-सा पानी छेद में से रिस चुका होगा। यही हाल हमारे उत्साह का होता है। वह प्रतिदिन कम होता जाता है और एक दिन समाप्त हो जाता है।

उत्साह काम की आत्मा है। बिना उत्साह के किया हुआ काम

सफल नहीं होता। उत्साह ही है जो हमारी सारी शक्तियों को काम में लगाता है। यदि मन कहीं और हो और हाथ कहीं और तो काम न तो समय पर पूरा किया जा सकता है, न भली प्रकार किया जा सकता है और न उस काम से करने वाले को आनन्द ही मिल सकता है। हां, इस प्रकार अनमने ढंग से किया जाने वाला काम आपको जल्दी ही थका देगा। इसके विपरीत जिस काम में हमारा मन लगता है, उसे करते समय न तो थकान होती है और न समय का पता लगता है। आनन्द तो उसी काम में मिलेगा, जिसे हम मन लगाकर, जोश के साथ करेंगे।

प्रत्येक बालक में, वह चाहे बुद्धिमान हो या साधारण, कुछ कर दिखाने की शक्ति होती है। बुद्धिमान बालकों में सूझ-बूझ दूसरों से कुछ अधिक हो सकती है, पर काम करने में जिन अनेक शक्तियों की आवश्यकता होती है, सूझ-बूझ उनमें केवल एक शक्ति है। अन्य शक्तियां तो साधारण बुद्धि वालों में भी उतनी ही या उससे भी अधिक हो सकती हैं। यदि बालकों को अच्छे काम करने के लिए प्रेरित किया जाए, उनकी इच्छाशक्ति को जगाया जाए, तो उनका आलस्य स्वयं भाग जाएगा और उनमें कर्मठता आ जाएगी। उत्साह ऐसा जेनरेटर है जो सारी सोई हुई शक्तियों को न केवल जगाता है अपितु बढ़ा भी देता है।

उत्साह की शक्ति का चमत्कार नैपोलियन के जीवन में प्रकट हुआ था। जो कार्य उसने दो सप्ताहों में कर दिखाया था, दूसरे उसे एक वर्ष में भी कठिनाई से कर पाते। उसके सैनिकों और कर्मचारियों के बारे में आस्ट्रियन कहा करते थे कि ये मनुष्य नहीं, मशीन हैं।

जिन्होंने उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की खोजपूर्ण यात्रा की, जो गौरी-शंकर की चोटी पर चढ़ने में सफल हुए, जो ज्वालामुखियों के गर्भ में और समुद्र की अतल गहराइयों में उतरे, वे धीरज, उत्साह और साहस के पुतले ही थे। वे ही थे जिन्होंने अगम्य रेगिस्तानों और दुर्गम जंगलों में यात्राएं कीं।

धीरज, उत्साह और साहस ये तीन ऐसे गुण हैं जो असंभव को भी संभव बना देते हैं।

किसी भले परिणाम को दृष्टि में रखकर निंदा-स्तुति, लाभ-हानि, और जीवन-मृत्यु की परवाह न करके धीर-गंभीर व्यक्ति न्याय के मार्ग

से कभी इधर-उधर नहीं होते।

केवल कष्ट सहन कर लेने को आप साहस का नाम दे सकते हैं पर उस कष्ट सहने में भी जो आनंद का अनुभव करे, उत्साही उसे ही कहा जा सकता है।

कठिन से कठिन पीड़ा को भी बिना घबराए सह लेने को साहस कहेंगे और उमंग या जोश के साथ बड़ी से बड़ी विपत्ति को झेलना उत्साह के अंतर्गत आएगा। बार-बार आने वाली किसी विपत्ति को बिना चीखे-चिल्लाए सह लेना धीरज कहलाएगा।

धीरज की परीक्षा सामान्य अवस्था में नहीं हो पाती। जब कोई कठिन अवसर आ उपस्थित होता है तभी धीर पुरुषों की पहचान होती है।

हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि धैर्य के बिना उत्साह ज्यादा देर नहीं टिक सकता। उत्साह, धैर्य, और साहस की एक अनोखी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख यहां प्रसंग को स्पष्ट कर देगा।

अकबर और महाराणा प्रताप के बीच हुई हल्दीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई में अकबर का सेनापति था मानसिंह। वह हाथी पर सवार होकर सैन्य-संचालन और युद्ध एक साथ कर रहा था। महाराणा के रामप्रसाद नामक हाथी और अकबर के हाथी में लड़ाई छिड़ी। महाराणा के हाथी का महावत शत्रु की गोली लगने से गिर गया और महाराणा के प्रसिद्ध हाथी रामप्रसाद पर अकबर की सेना ने कब्जा कर लिया।

दोपहर के समय महाराणा प्रतापसिंह ने अपने प्रसिद्ध चेतक नामक घोड़े को दौड़ाकर मानसिंह से कहा, "तुझसे जहां तक हो सके, बहादुरी दिखला। प्रताप आ गया।" राणा ने अपने लम्बे और तीखे भाले का प्रहार, हौदे में बैठे मानसिंह पर किया। हौदे में झुककर मानसिंह ने भाले के वार को बचा लिया। महाराणा के घोड़े चेतक ने दोनों अगले पैर मानसिंह के हाथी के सिर पर टिका दिए। हाथी की सूंड में जो तलवार थी, उससे चेतक के पिछले एक पैर में बड़ा घाव हो गया। और प्रताप उस समय अकबर के सैनिकों से घिर गए। इस कठिन अवसर पर बीदा झाला सरदार ने अपने अभूतपूर्व बलिदान से अपना नाम इतिहास में अमर कर दिया। उसने महाराणा को बचाने के

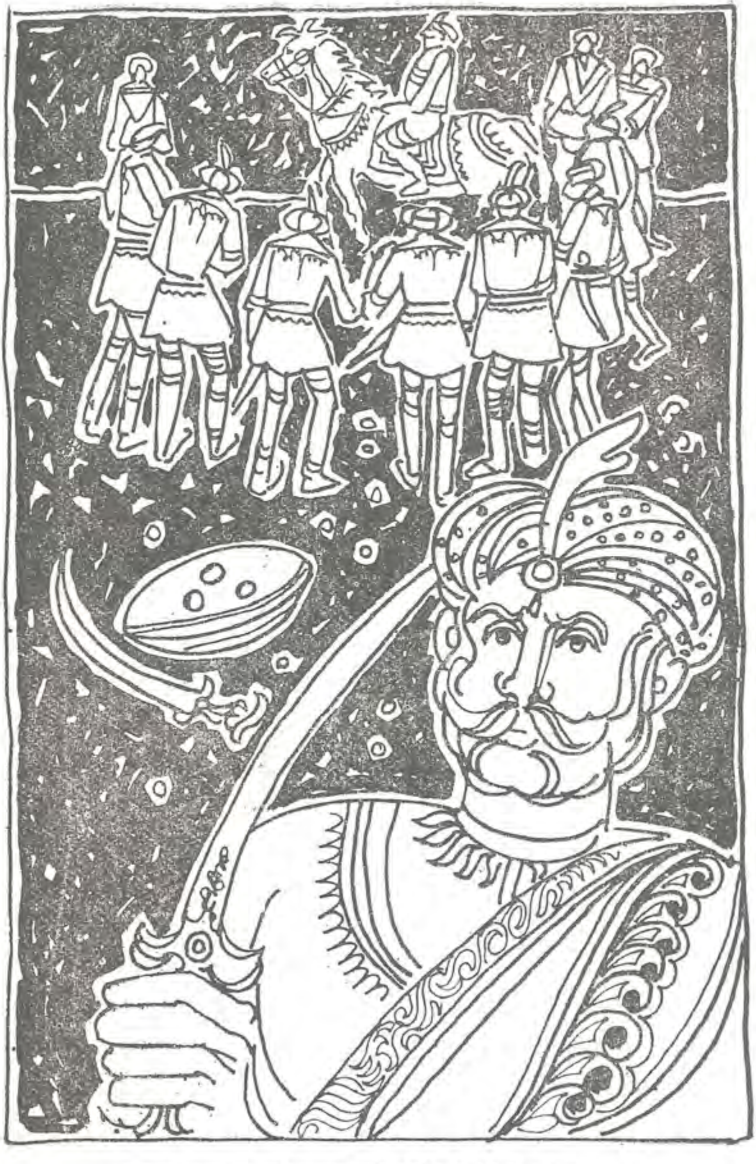

झाला सरदार को अकबर के सैनिकों ने घेर लिया है।
महाराणा प्रताप युद्ध के बाहर जा रहे हैं।

लिए उनके राजचिह्न, बलपूर्वक स्वयं धारण कर लिए, जिससे शत्रु-पक्ष के सैनिक उसे ही महाराणा समझकर उस पर प्रहार करने लगे। उसने महाराणा प्रताप को वहां से चले जाने के लिए विवश कर दिया।

झाला सरदार को शत्रु-सैनिकों ने पूरी तरह घेर लिया और प्रहार करने लगे। वह अकेला वीर कुछ समय तक उनका सामना करता रहा। पर ऐसी हालत में वह कब तक बच सकता था। शीघ्र ही उसने वीर-गति प्राप्त की। उत्साह, धीरज और साहस का यह अनुपम उदाहरण है।

उत्साह, धैर्य और साहस की एक और अनुपम ऐतिहासिक घटना देखिए : मुसलमानों के भारत पर शासन करने से पूर्व के, स्वतंत्र भारत के अंतिम नरेश पृथ्वीराज युद्ध-भूमि में पड़े थे। उनके शरीर पर इतने घाव थे कि वे अपने स्थान से जरा भर खिसकने और हाथ हिलाने तक में असमर्थ थे। वे लगभग अचेत अवस्था में पड़े थे। उनके सैनिक पीछे हट चुके थे। युद्ध-भूमि में केवल घायल सैनिक पड़े थे। घायलों की चीख-पुकार और कराहने से युद्ध-भूमि की भीषणता और भी बढ़ गई थी। अशक्त घायलों की लाशों को नोचने के लिए झुण्ड के झुण्ड गीध वहां उतर पड़े थे और महोत्सव मना रहे थे। आकाश में मंडराते गीधों की छाया रणभूमि पर पड़ रही थी। कुछ गीध अचेत पड़े महाराज पृथ्वीराज की ओर भी बढ़ रहे थे। उनके पास ही उनका अंगरक्षक सामंत संयमराय भी घायल पड़ा हुआ था। उसे होश तो पूरा था पर शक्ति नहीं थी। उसने गीधों को पृथ्वीराज की ओर बढ़ते देखा।

उस वीर ने सोचा, 'मैं महाराज के अंगरक्षक पद पर नियुक्त हूं। मेरे देखते-देखते क्या ये गीध अचेत पड़े महाराज को नोच खाएंगे! नहीं, यह नहीं होगा, मैं यह नहीं होने दूंगा। मैं अपने प्राण रहते, यदि महाराज की रक्षा न कर सका तो यह कर्तव्य-विमुखता होगी।'

उसने पास पड़ी अपनी तलवार उठा ली और अपने शरीर का मांस टुकड़े-टुकड़े काटकर गीधों की ओर फेंकने लगा। गीध इन मांस के लोथड़ों को खाने लगे और अचेत पड़े महाराज पृथ्वीराज की ओर नहीं बढ़े।

जब महाराज के सैनिक उन्हें खोजते रणभूमि में आए तो वीर संयमराय अपने शरीर का काफी मांस गीधों को खिला चुके थे।

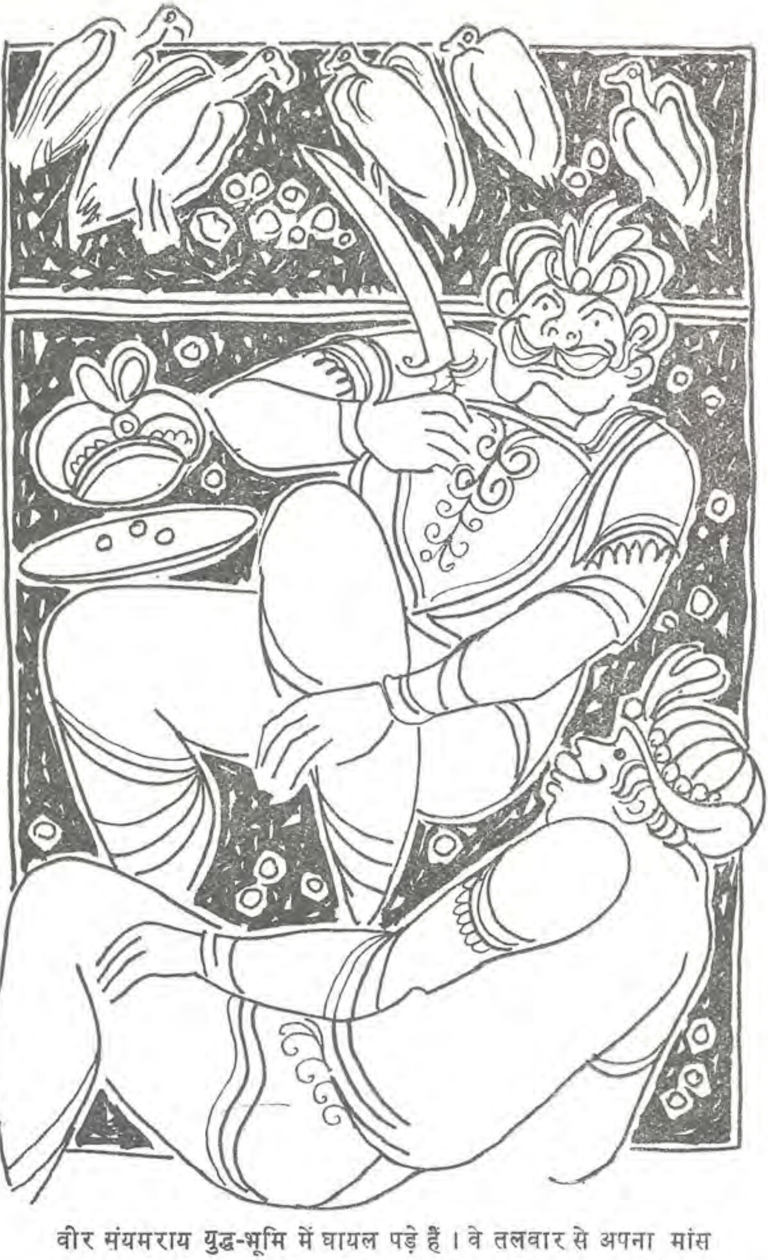

वीर संयमराय युद्ध-भूमि में घायल पड़े हैं। वे तलवार से अपना मांस काटकर गिद्धों की ओर फेंक रहे हैं। पास ही पृथ्वीराज घायल पड़े हैं।

उनके प्राणों की रक्षा नहीं हो सकी पर उनका यश रूपी शरीर तो युगों-युगों के लिए अमर हो गया।

विश्व के इतिहास में ऐसे धैर्य और साहस की मिसालें नहीं मिलतीं।

अपना अंग-अंग गीधों को खिलाकर स्वामी के प्राण बचाने वाला सच्चा अंगरक्षक बनना संयमराय के ही भाग्य में बदा था।

वह धैर्य ही था जिसने महाराणा प्रताप को शक्तिशाली अकबर से वर्षों जूझते रहने की सामर्थ्य प्रदान की।

महाराष्ट्र केसरी शिवाजी, रणथम्भौर के महाराणा हम्मीर देव, गुरु गोविन्द सिंह जी तथा वीर वैरागी जैसे महापुरुषों में हमें उत्साह, धैर्य और साहस के गुणों का चरम विकास दिखाई देता है।

जिन अंग्रेजों द्वारा इतना विस्तृत भूप्रदेश शासित था कि उसमें सूर्यास्त नहीं होता था, उनके साथ महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाले स्वतंत्रता-आंदोलन को इतने वर्षों तक जारी रखना और अन्त में देश को स्वतंत्र कराना कभी भी संभव न होता यदि हमारे नेताओं में स्वतंत्रता के लिए उत्साह, लम्बे संघर्ष के लिए धैर्य और महान् शक्तिशाली अंग्रेजों से जूझने का साहस न होता। कार्य जितना बड़ा होगा, उद्देश्य जितना महान् होगा, उसी अनुपात में तीव्र उत्साह, अविचल धैर्य और अदम्य साहस की आवश्यकता होगी। कार्यसिद्धि उपकरणों पर उतनी निर्भर नहीं करती, जितनी गुणों पर।

धैर्य की परीक्षा विशेष परिस्थितियों में ही होती है। सुख-सुविधापूर्ण जीवन-यापन के तरह-तरह के प्रलोभन सामने हों और दूसरी ओर उद्देश्यसिद्धि का कांटों भरा मार्ग हो तो यह हमारे धैर्य की परीक्षा का अवसर होगा।

धैर्य वह महान् सर्वप्रथम गुण है, जिसकी दृढ़ नींव पर ही बाकी गुण टिके रह सकते हैं।

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।
आपात काल परखिये चारी॥

क्षमा

कविवर दिनकर ने प्रसिद्ध युद्ध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' में लिखा है :

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो विषरहित, विनीत सरल हो।

सच्ची क्षमा वीरों का भूषण है, निर्बलों का कवच नहीं। महात्मा विदुर ने महाभारत में कहा है कि 'क्षमा' में और सब गुण ही गुण हैं, हां, एक दोष है। और वह यह कि क्षमा करने वाले को लोग दुर्बल समझने लगते हैं।

अपना अपकार करने वाले से बदला लेने की पूरी सामर्थ्य होते हुए भी, बदला न लेकर, अपकार को प्रसन्नता के साथ सह लेना 'क्षमा' कहलाता है।

जब अपकार करने वाले से बदला लेने का विचार तक न हो, उसे सच्ची क्षमा कहा जा सकता है।

क्षमा रूपी शस्त्र जिसके पास हो, उसका दुर्जन कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

महात्मा बुद्ध ने 'धम्मपद' में कहा है : "उसने मुझे गाली दी, मुझे मारा, मेरा अपमान किया, मेरी बात नहीं मानी, मेरा काम नहीं किया, मुझे हरा दिया। इस तरह की गांठें जो लोग मन में बांध लेते

हैं और बदला लेने के अवसर की ताक में रहते हैं उनका मन कभी शांत नहीं होता ।"

हमारी प्रतिहिंसा की भावना, बदला लेने की भावना तरह-तरह के रूपों में प्रकट होती है। उदाहरण के रूप में :

एक मनुष्य ने दूसरे को थप्पड़ मारा, बदले में उसने भी थप्पड़ मार दिया तो दोनों बराबर हो गए। बदले का यह प्रत्यक्ष रूप है।

गाली देने वाले को बदले में गाली नहीं दी। यह दो कारणों से हो सकता है। गाली देने वाला शक्तिशाली हुआ और स्वयं दुर्बल, तो गाली देने पर पिटने की नौबत आ सकती है, इसलिए चुप रह गया। एक कारण यह भी हो सकता है कि गन्दी गालियां बकने की आदत ही नहीं है। यह सभ्यता के भी विरुद्ध है, इस कारण चुप रह गया। परंतु थाने में जाकर गाली देने वाले के विरुद्ध शिकायत लिखवा दी। इसमें बदला लेने की तैयारी पूरी है। रूप बदला हुआ है।

बदले में गाली नहीं दी, थाने में शिकायत भी नहीं लिखवाई, किंतु सुनाकर कहा कि जो गाली देता है, वह अपना ही मुंह गंदा करता है। मेरा न्याय परमात्मा ही करेंगे। जो जैसे करेगा, वैसा ही पाएगा। यह भी बदले का ही एक रूप है। इसे क्षमा समझने की भूल कभी न करें।

प्रतिहिंसा का एक और विचित्र रूप भी देखने में आया है। एक उद्दण्ड किशोर नें किसी दुर्बल भद्र पुरुष को गाली दे डाली। उस भद्र पुरुष ने पांच रुपये का नोट जेब से निकालकर गाली देने वाले को दिया। लड़का नोट लेकर चला गया तो किसीने पूछ लिया कि गाली के बदले आपने पांच रुपए का नोट क्यों दिया ? तब वे भद्र पुरुष बोले कि इस उद्दण्ड छोकरे को दंड देने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है, किंतु मैं चाहता हूं कि इसे कोई ऐसा टकरा जाए जिससे सारी कसर निकल जाए। गाली के बदले रुपए पाकर उसकी उद्दंडता और बढ़ जाएगी और वह हर किसी को गाली देता फिरेगा। तब कोई न कोई समर्थ व्यक्ति उसे समुचित दंड देकर होश ठिकाने लगा देगा।

कई बार ऐसा होता है कि जिस व्यक्ति ने हमारा अपकार किया था और हम 'भगवान् ही इसका न्याय करेंगे' कहकर चुप रह गए थे, उसी व्यक्ति पर जब बाद में कोई विपत्ति आती है तो हम मन में

खूब प्रसन्न होते हैं और लोगों से कहते फिरते हैं कि हमारा बदला भगवान् ने उससे ले लिया।

किंतु जो क्षमाशील हैं, वे क्षमा करके तुरंत शांत चित्त और निर्मल मन हो जाते हैं। बदले की भावना की आग में उनके हृदय को झुलसना नहीं पड़ता। क्रोध, प्रतिहिंसा और द्वेष जैसे दुर्गुण क्षमाशील व्यक्ति के पास भी नहीं फटकते। क्षमा रूपी साबुन से वह हृदय के सारे मैल को धो डालते हैं। संत पुरुषों का तो क्षमा करना स्वभाव ही होता है। इतना ही नहीं, वे तो बुराई को न केवल क्षमा कर देते हैं अपितु बदले में भलाई भी करते हैं।

एक घमंडी युवक ने प्रसिद्ध शूरवीर सर वाल्टर रैले को द्वंद्वयुद्ध की चुनौती दी। उस समय यूरोप में यदि कोई द्वंद युद्ध की चुनौती को स्वीकार नहीं करता था तो वह डरपोक समझा जाता था। सर वाल्टर रैले तलवार चलाने में बड़े निपुण थे, फिर भी उन्होंने उस युवक की चुनौती अस्वीकार कर दी। अस्वीकृति से चिढ़कर इस घमंडी असभ्य युवक ने सर रैले के मुंह पर थूक दिया। सर रैले ने जेब से रूमाल निकाला और बिना किसी उत्तेजना के मुंह पर से थूक को पोंछ डाला।

लोगों ने उनसे पूछा कि आप की टक्कर का तलवार चलाने वाला दूसरा कोई नहीं है, फिर भी आपने द्वंद्व युद्ध को अस्वीकार क्यों कर दिया? वे बोले, जितनी आसानी से मैंने अपने मुंह पर से थूक को साफ कर डाला, यदि इतनी ही आसानी से मैं एक आदमी की हत्या के पाप को भी पोंछ सकता तो चुनौती स्वीकार कर लेता।

एक संत गांव की ओर आ रहे थे। एक दुष्ट व्यक्ति उन्हें गालियां देता हुआ, उनके पीछे-पीछे चल रहा था। संत ने उससे कुछ नहीं कहा और चुपचाप चलते रहे। जब गांव बिलकुल पास आ गया तो वे खड़े हो गए और गालियां देने वाले से बोले, "भाई, तुम्हें जितनी गालियां देनी हों, दे लो। मैं खड़ा हूं। यदि गांव के लोगों ने तुम्हें मुझे गालियां देते सुन लिया तो फिर तुम्हारी खैर नहीं।" अब तो वह दुष्ट व्यक्ति पानी-पानी हो गया और क्षमा मांगने लगा।

राजा विश्वामित्र तपोवन में पधारे थे। जब वे महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में पहुंचे तो महर्षि ने उनका खूब अतिथि-सत्कार किया। विश्वामित्र यह देखकर आश्चर्य में पड़ गए कि कुटिया में रहने वाले

महर्षि वसिष्ठ ने उनकी पूरी सेना को राजाओं जैसे विविध व्यंजन परोसे। और उस भोजन का स्वाद ऐसा था कि राजा को अपने महलों के षड्रस भोजन में भी कभी नहीं मिला था। उन्होंने वसिष्ठ जी से पूछ ही लिया कि आप इतनी बड़ी सेना को अमृत जैसा स्वादिष्ट भोजन कराने के लिए यह सामग्री कहां से जुटा पाए। आपकी इस कुटिया में तो कुछ दिखता नहीं।

जब महर्षि वसिष्ठ ने बताया कि नन्दिनी गौ उनके पास है और वह मन चाहे भोज्य पदार्थ, आवश्यकता अनुसार देती है तो विश्वामित्र के मन में लोभ आ गया। उन्होंने महर्षि से वह गाय मांगी। जब किसी भी तरह, किसी भी मूल्य पर महर्षि ने नन्दिनी गौ को देना स्वीकार नहीं किया तो विश्वामित्र बलपूर्वक उसे छीन कर ले जाने लगे। परंतु महर्षि के तपोबल से नन्दिनी ने अपनी हुंकार से अत्यंत बलशाली योद्धा उत्पन्न कर दिए। उन योद्धाओं ने विश्वामित्र के सैनिकों को मार भगाया। इस प्रकार नन्दिनी महर्षि के पास रह गई।

राजा विश्वामित्र की सारी शक्ति महर्षि के ब्रह्मतेज के सामने फीकी पड़ गई। वसिष्ठ से बार-बार पराजित होकर विश्वामित्र समझ गए, मेरा क्षात्रबल तपस्वी ब्राह्मण का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसलिए राजा विश्वामित्र ने ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिए कठोर तपस्या प्रारंभ कर दी। सैकड़ों वर्षों की कठोर तपस्या के बाद ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन तो दिया, पर जब विश्वामित्र ने कहा कि मुझे 'ब्राह्मणत्त्व' प्रदान करें तो ब्रह्मा जी बोले कि इसके लिए महर्षि वसिष्ठ की स्वीकृति आवश्यक है। इससे विश्वामित्र को बड़ी निराशा हुई। वे सीधे वसिष्ठजी से यह नहीं कहना चाहते थे कि आप मुझे ब्राह्मण मान लें। यह कहने में उन्हें अपनी हेठी लगती थी। जब कभी वसिष्ठजी को विश्वामित्रजी मिल जाते तो वे उन्हें राजर्षि कहकर पुकारते, ब्रह्मर्षि कहकर नहीं और विश्वामित्र चाहते थे कि वसिष्ठ उन्हें 'ब्रह्मर्षि' कहकर पुकारें।

वसिष्ठ जी द्वारा उन्हें 'ब्रह्मर्षि' स्वीकार नहीं किए जाने से, विश्वामित्र उन्हें अपना शत्रु मानने लगे। विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ से बदला लेने की ठानी। एक राक्षस को प्रेरित करके विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ के सौ पुत्र मरवा डाले। इस पर भी विश्वामित्र का क्रोध शांत नहीं हुआ। जब भी अवसर मिलता, वे महर्षि वसिष्ठ को

अपमानित करने और दु:ख पहुंचाने का प्रयत्न करते।

अपने सारे प्रयत्नों के द्वारा भी विश्वामित्र तप:पूत महर्षि वसिष्ठ को विचलित नहीं कर सके। महर्षि तो क्षमा की मूर्ति थे। वे चाहते तो अपने तपोबल से विश्वामित्र को उचित दण्ड दे सकते थे, पर वे शांत रहे।

जब विश्वामित्र 'ब्रह्मर्षि' की पदवी पाने में सफल नहीं हुए तो उन्होंने निश्चय किया कि मैं नई सृष्टि रचूंगा, फिर अपनी रची सृष्टि का 'ब्रह्मा' बनूंगा।

और सचमुच अपने तप के प्रभाव से विश्वामित्र ने नई सृष्टि की रचना कर डाली। नई तरह के अन्न, नई तरह के फल-फूल, नई तरह के वनस्पति, पशु-पक्षी भी नए प्रकार के।

अंत में ब्रह्मा जी ने आकर उन्हें रोक दिया। जितनी सृष्टि उन्होंने रची थी, वह सब ब्रह्माजी की सृष्टि में ही यथावत् बनी रहेगी, यह आश्वासन भी दिया।

जब विश्वामित्र ने देखा कि महर्षि वसिष्ठ से ब्रह्मर्षि की पदवी मिलने का कोई उपाय नहीं है तो उन्होंने महर्षि वसिष्ठ को मार डालने का निश्चय कर लिया।

आमने-सामने की लड़ाई में विश्वामित्र कई बार हार चुके थे, इसलिए अब की बार उन्होंने निश्चय किया कि रात के समय जब वसिष्ठ सो रहे होंगे, चुपके से उनकी हत्या कर डालूंगा।

इसी उद्देश्य से शस्त्रों सहित वे लुकते-छिपते महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में आ पहुंचे और एक वृक्ष की आड़ में छिपकर बैठ गए।

चांदनी रात थी। महर्षि वसिष्ठ अपनी पत्नी अरुन्धती के साथ कुटिया के आंगन में बैठे हुए थे। अरुन्धती देवी बोलीं, "कैसी शुभ्र चांदनी छिटकी हुई है!"

वसिष्ठ जी बोले, "जैसे यह निर्मल चांदनी चारों ओर छिटकी हुई है, ऐसे ही आजकल विश्वामित्र जी की तपस्या का तेज भी चारों ओर फैला हुआ है।"

विश्वामित्र जी वृक्ष की आड़ में छिपे इन बातों को सुन रहे थे। वसिष्ठ जी से अपनी प्रशंसा सुनकर वे ग्लानि से भर उठे। उनकी आत्मा ने उन्हें धिक्कारा कि जिसकी तू छिपकर हत्या करने आया है, और इससे पहले जिसके सौ पुत्रों को तू मरवा चुका है, वह व्यक्ति

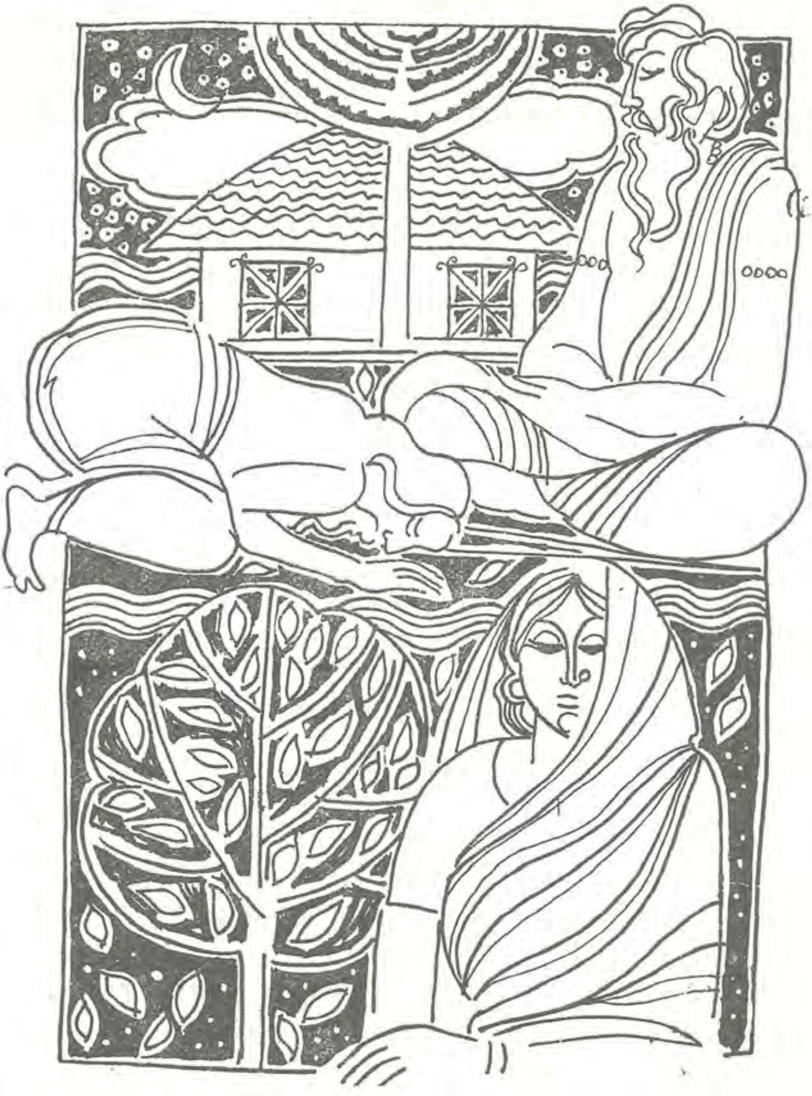

महर्षि वसिष्ठ के चरणों में विश्वामित्र पड़े हैं।
पास ही अरुन्धती बैठी हैं।

कितना महान् है ! पिछली सारी बातों को भूलकर वह तुम्हारे तप की कैसी प्रशंसा कर रहा है !

वसिष्ठ की महानता और अपनी नीचता विश्वामित्र को स्पष्ट हो गई। पश्चात्ताप की आग से उनकी छाती जलने लगी। फिर तो वे दौड़कर गए और वसिष्ठ के चरणों पर दंडवत् गिर पड़े। पुराना वैर समाप्त हो गया। वसिष्ठ के क्षमाशील स्वभाव ने वैरी को झुका दिया था।

महर्षि ने उज्ज्वल चांदनी में विश्वामित्र जी को पहचान लिया। वे दंडवत् प्रणाम करते विश्वामित्र को उठाकर छाती से लगाते हुए बोले, "उठिए ब्रह्मर्षि !"

क्षमा सदा ही उच्चकोटि का गुण रहा है। भविष्य में भी रहेगा। यह आवश्यक है कि क्षमा का उपयोग उचित स्थान और समय पर ही होना चाहिए।

वह कहानी तो आपने सुनी ही होगी। एक विषधर सर्प था। वह लोगों को दौड़कर काटता था। उसके विष से कितने ही लोग मर चुके थे। एक बार जब वह किसी महात्मा को काटने दौड़ा तो उन्होंने उसे अपने तप के प्रभाव से शांत कर दिया और उपदेश दिया कि इस तरह राह चलते लोगों को काटने से बड़ा पाप लगता है और पाप का परिणाम बुरा होता है।

महात्मा के उपदेश से सर्प का स्वभाव एकदम बदल गया और उसने लोगों को न केवल काटना छोड़ दिया अपितु फुफकारना तक बंद कर दिया। अब वह जहां का तहां पड़ा रहता। उसे देखकर कोई ढेला मारता तो भी वह चुपचाप पड़ा रहता। अब तो लोगों ने ढेले मार-मारकर उसे घायल कर दिया। उसके लिए भोजन को खोजने जाना तक कठिन हो गया। बेचारा जहां का तहां पड़ा रहता।

वे ही महात्मा जब कुछ दिनों बाद फिर उस मार्ग से निकले तो उन्होंने सर्प को घायल पड़ा देखकर पूछा कि तुम्हारी यह हालत कैसे हुई ?

सर्प बोला, "महात्मा जी, आपके उपदेश के अनुसार आचरण करने से ही मेरी यह दशा हुई है। अब सभी लोग मुझे ढेले मारते रहते हैं। पहले मैं काटता था तो लोग मुझसे डरते थे और मुझे देखते ही भागने

सांप घायल पड़ा है। ग्वाले उसे ठेले मार रहे हैं। सांप शांत पड़ा है।

लगते थे। पर अब तो छोटे बालक भी मुझे ढेले मारते हैं।"

सर्प की बात सुनकर महात्मा जी बोले, "तुमनें मेरे उपदेश का अर्थ ठीक से नहीं समझा। मैंने तुम्हें काटने को मना किया था। यह तो नहीं कहा था कि फुफकारना भी मत। तुम्हारी यह दशा मेरे उपदेश के कारण नहीं, उपदेश को ठीक से न समझने के कारण हुई है।"

नीतिकारों ने कहा है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'। जो धूर्त हैं, उनके साथ धूर्तता से काम ले। यह भी कहा है कि समय के अनुसार मनुष्य को कभी तो कोमल और कभी कठोर होना चाहिए। इसी बात को दूसरे ढंग से भी कहा है कि न तो सदा तेजस्विता दिखाना ठीक है और न सदा क्षमाशील होना ही।

नीतिकारों और धर्मशिक्षकों के मत में जो अंतर है, वह दोनों की विचारधारा का अंतर है। धार्मिक व्यक्ति स्वयं दुःख-कष्ट सहकर भी दूसरे को सुख पहुंचाने या दुःख न देने का प्रयत्न करता है। परंतु नीतिवान् पुरुष अपना कार्य सिद्ध करने के लिए कभी तो क्षमाशील बन जाता है और कभी 'जैसे को तैसा'।

'क्षमा' की शक्ति अपना पूरा प्रभाव तभी दिखाती है, जब सच्चे मन से और अपकार करने वाले के प्रति हित-कामना से प्रेरित होकर तथा बदला चुकाने की पूरी सामर्थ्य होने पर भी उसका प्रयोग न किया जाए।

सज्जन पुरुष अपनी क्षमाशीलता से बड़े-बड़े क्रोधियों के क्रोध और दुष्टों की दुष्टता को शांत कर देते हैं। क्षमा की शक्ति का जिन लोगों ने पूरी तरह प्रयोग किया है, उनका कहना है कि कोमलता कठोरता को मार देती है। ऐसा कोई काम नहीं जो कोमलता से न सध सके। इसलिए कोमलता ही बड़ी भारी कठोरता है।

नीतिवान् पुरुष नीति के रूप में भी क्षमा का प्रयोग करते हैं। उनका कहना है कि क्षमा दुर्बल लोगों की शक्ति है और बलवान् पुरुषों का भूषण। क्षमा से लोगों को वश में किया जा सकता है। कोई भी ऐसा काम नहीं जो क्षमा से सिद्ध न हो सके।

धर्मशील और नीतिवान् दोनों तरह के लोगों ने क्षमा की शक्ति को माना है और उसकी प्रशंसा भी की है।

एक महात्मा थे। जब उनका अंत समय आया तो उनके शिष्यों ने कहा कि हमें अंतिम समय कोई उपयोगी शिक्षा दीजिए।

महात्मा जी ने मुंह खोला और एक शिष्य को कहा, "बताओ, मेरे मुंह में कितने दांत हैं ?"

शिष्य ने देखकर कहा कि एक भी दांत नहीं है। तब वे ज्ञानी गुरु बोले, "देखो, मेरे मुंह में बत्तीस दांत थे किंतु उनमें से आज एक भी नहीं बचा। और यह जीभ दांतों से भी पहले मुंह में थी और आज भी ज्यों की त्यों है। जानते हो, इसका रहस्य क्या है ?"

दांत कठोर थे, वे टूट गए। जीभ कोमल थी, यह बची रही। कोमलता से कठोरता हार गई।

छोटी-मोटी बातों पर क्रोध करके हमें अपने चित्त की शांति को भंग नहीं कर लेना चाहिए। क्रोध को यदि हम कुछ क्षणों के लिए रोक लें और परिस्थिति पर विचार करें तो तब तक हमारा क्रोध शांत हो लेगा और क्रोध की दशा में उतावली में किए हुए कामों के दुष्परिणाम भुगतने से हम बच जाएंगे।

आग यदि पत्थरों पर फेंक दी जाए तो पत्थरों का कुछ नहीं बिगड़ेगा और आग बुझ जाएगी। इसी तरह क्रोध और अपकार की शक्ति भी क्षमाशील व्यक्ति के सामने कुंठित हो जाती है।

काम-लोभ बस कोप करि, करत जो तुअ अपकार।
निज अनिष्ट नित करत सो, निश्चय मूढ़ गँवार।।
ताकौं नित कीजै छिमा, दया पात्र तेहि जानि।
जो निज हाथहिं तें करत, अपनी अतिसै हानि।।

और जो क्षमाशील है, जिसके मन में प्रतिहिंसा की आग नहीं जल रही है, वह कहता है—

इस सारी जगती में मेरा कोई शत्रु नहीं है।
प्रतिहिंसा का मेरे मन में कोई भाव नहीं है।।

दम

[इंद्रियों को वश में रखना]

मन होता है जिसका जैसा,
जीवन भी होता है वैसा।

दम का अर्थ ठीक से समझ लेना चाहिए। मन को इन्द्रियों के वश में न होने देने का नाम है दम।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में मन के बारे में बहुत-कुछ कहा है। जब अर्जुन ने कहा कि हे कृष्ण! यह मन तो बड़ा चंचल है। यही नहीं, यह आदमी को मथ डालता है और बड़ा बलवान् है। इसे वश में रखना बड़ा कठिन है, वायु को वश में रखने से भी कठिन।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले, "अर्जुन! मन के बारे में तुमने जो कुछ कहा, वह यद्यपि ठीक है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे वश में किया जा सकता है।"

दूसरी जगह भगवान् कृष्ण कहते हैं कि यह मन ही है जो आदमी के बंधन और मुक्ति का कारण है। यदि यह मन इंद्रियों के विषयों के पीछे दौड़ता रहे तो मनुष्य बंधन में पड़ा रहता है, और यदि विषयों से हट जाए तो मनुष्य महान् बन जाता है।

बुरे कामों की ओर से मन को हटाना ही 'दम' का वास्तविक अर्थ है।

बात यह है कि इन्द्रियरूपी हमारे जितने द्वार हैं, ये सब बाहर की ओर खुलते हैं, अर्थात् आँखें बाहर की चीजों को देखती हैं, कान बाहर के शब्दों को सुनते हैं। जीभ बाहर से ग्रहण किए रसों को चखती है। त्वचा बाहर के स्पर्श से सुख-दु:ख का अनुभव करती है। नाक बाहर से आने वाली गंध को सूंघती है।

मन को छठी इंद्रिय और इंद्रियों का राजा भी कहते हैं।

इस बात को एक रूपक द्वारा समझ सकते हैं। एक रथ है। रथ में रथ का स्वामी बैठा हुआ है। घोड़े जुते हुए हैं। सारथी रथ को हांक रहा है। यदि सारथी लगाम ढीली छोड़ दे और घोड़े मनमाने ढंग से जिधर जी चाहें, उधर को चल दें तो रथ का स्वामी जहां पहुंचना चाहता है, वहां नहीं पहुंच सकेगा। यदि लक्ष्य पर पहुंचना हो तो यह आवश्यक है कि सारथी मार्ग जानता हो और लगाम को इस तरह पकड़कर रखे कि घोड़ों को अपनी मर्जी के अनुसार चला सके। यही ठीक तरीका है।

महात्मा बुद्ध ने कहा है: जो अपनी इंद्रियों को काबू में नहीं रखता—अर्थात् बातचीत में बकवादी, भोजन में पेटू, नई-नई चीजों को देखने का शौकीन, नई-नई बातों को सुनने का इच्छुक, आलसी और उद्योगहीन है—ऐसे प्रमादी मनुष्य को संसार में दु:ख, दारिद्रय और क्लेश प्राप्त होते हैं।

एक दूसरी जगह वे कहते हैं—जैसे ठीक से न छाए छप्पर में वर्षा का जल घुस आता है, वैसे ही दुर्बल—कच्चे मन वालों में बुराइयां आ जाती हैं।

मन जब तक मनमाने रूप में विषयों के पीछे भटकता रहता है, तब तक इससे कोई उपयोगी अथवा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हो पाता। जैसे जल का प्रवाह यदि कई धाराओं में बंट जाए और वे धाराएं

इधर-उधर बिखर जाएं तो यह सारा जल न केवल व्यर्थ जाएगा, अपितु समय-समय पर कठिनाइयां भी उत्पन्न करेगा। उसी प्रवाह को यदि बांध बनाकर रोका जाए तो उस जल को अनेक उपयोगी कामों में लाया जा सकता है।

आजकल बड़े-बड़े बांध बनाकर जहां बाढ़ के प्रकोप से जान बच गई है, वहां सिंचाई तथा बिजली-उत्पादन का कार्य भी उस जल से लिया जा रहा है।

इंद्रियों का काम है विषयों की ओर दौड़ना। यदि मन भी इंद्रियों के पीछे-पीछे दौड़ने लगे तो मनुष्य की बुद्धि को भटका देता है जैसे जल में खड़ी नाव को हवा।

जैसे दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति प्रतिदिन व्यायाम का अभ्यास करके हृष्ट-पुष्ट हो जाता है, वैसे ही विषयों की ओर दौड़ने वाला दुर्बल मन भी बार-बार के अभ्यास द्वारा वश में हो जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि मन को बलपूर्वक रोकना ठीक नहीं। उनका कहना है कि मन के साथ लड़ाई करने पर इससे जीतना कठिन है। इसलिए मन जो कुछ चाहे, वह इसे देते जाइए। जब यह तृप्त हो जाएगा तो अपने-आप स्थिर हो जाएगा। पर इसके विरुद्ध जो तर्क दिया जाता है, वह भी सुन लीजिए।

तन की भूख तो तनिक है। पर मन की भूख का कोई हिसाब नहीं है। मन कभी मरता नहीं। जैसे आग में घी डालने से वह तृप्त नहीं होती, बल्कि भभक उठती है, वैसे ही मन भी विषयों से तृप्त नहीं होता। यही कारण है कि जिसका मन चटपटे, खट्टे-मीठे भोजनों की ओर दौड़ता है वह चाहे कितना ही पेट भरकर खाए और चाहे जितने दिनों तक मन की बात मानता रहे, मन तृप्त नहीं होगा। जिसे सिनेमा देखने का शौक लग जाता है, उसकी भी वही हालत होती है। सिगरेट पीने वाला क्या कभी सिगरेट पीकर तृप्त होता है? जिन्हें फिल्मी गाने सुनने का शौक लग जाता है, उनका रेडियो क्या कभी बंद होता है? इसलिए मन की बात मान लेना खतरे से खाली नहीं है।

महात्मा कबीर ने कहा है—

आशा तृष्णा न मुई, मर मर गए शरीर।

यह छात्र अब महान् लेखकों की अमर कृतियाँ बड़े चाव से पढ़ता है

जिन्होंने मन को साधा है, उनका कहना है कि इसे केवल रोककर रखने से बात नहीं बनती। इसे बुरे मार्ग पर जाने से रोकिए और अच्छे मार्ग पर चलने को कहिए। या इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि इसे रोकिए मत। अच्छे कामों में लगा दीजिए तो अपने-आप बुरे कामों से हट जाएगा।

इन सब उपायों में, हमें तो अंतिम उपाय ही अच्छा लगता है।

एक उदाहरण से हम इन विभिन्न विचारों की परीक्षा करेंगे। मान लीजिए, एक छात्र को जासूसी उपन्यास पढ़ने का शौक लग गया। जब देखो, तब वह जासूसी उपन्यास खरीदकर या किराये पर लेकर पढ़ता रहता है। विद्यालय में भी वह जासूसी उपन्यास ही पढ़ता रहता है। परीक्षा में फेल हो गया है पर उपन्यास पढ़ने की लत नहीं छूटती। मां उसे बार-बार टोकती है। उसके हाथ में जब कभी उसका कोई उपन्यास पड़ जाता है तो छिपा देती है।

पर इससे कुछ भी लाभ नहीं होता। उपन्यास पढ़ना जारी रहता है।

लड़के का बड़ा भाई कहता है कि इसे रोको मत, पढ़ लेने दो जितना पढ़ना चाहे, एक दिन यह स्वयं उकता जाएगा।

पर पिता ने तीसरे मार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने महान् लेखकों की अमर कृतियां खरीदीं और लड़के को दे दीं। इन अमर कृतियों में उस किशोर का मन रम गया। अब उसने अच्छे लेखकों की अच्छी रचनाएँ पढ़नी प्रारंभ कर दीं। इस प्रकार जासूसी उपन्यास पढ़ना अपने-आप छूट गया।

घोड़े में तेज दौड़ने की शक्ति है, सवार को उठाने की शक्ति है, यह पशु समझदार भी है। इसके इन गुणों का उपयोग वही व्यक्ति कर सकता है, जो घोड़े को काबू में रख सके। यदि यह घोड़ा बेकाबू हो, किसीको पीठ पर बैठने न दे और ऊबड़-खाबड़ में दौड़ने लगे तो किस काम का।

नये-नये घोड़े को जब तांगे में जोता जाता है, तो पहले ही दिन वह सड़क पर ठीक चलने नहीं लग जाता। पहले-पहले उसे बिना सवारी के तांगे में जोता जाता है और ऐसी सड़क पर चलाया जाता है जिसमें भीड़-भाड़ न हो। इसी तरह कुछ दिनों के अभ्यास से जब घोड़ा सध जाता है, तभी उससे लगाम खींचने का काम लिया जाता

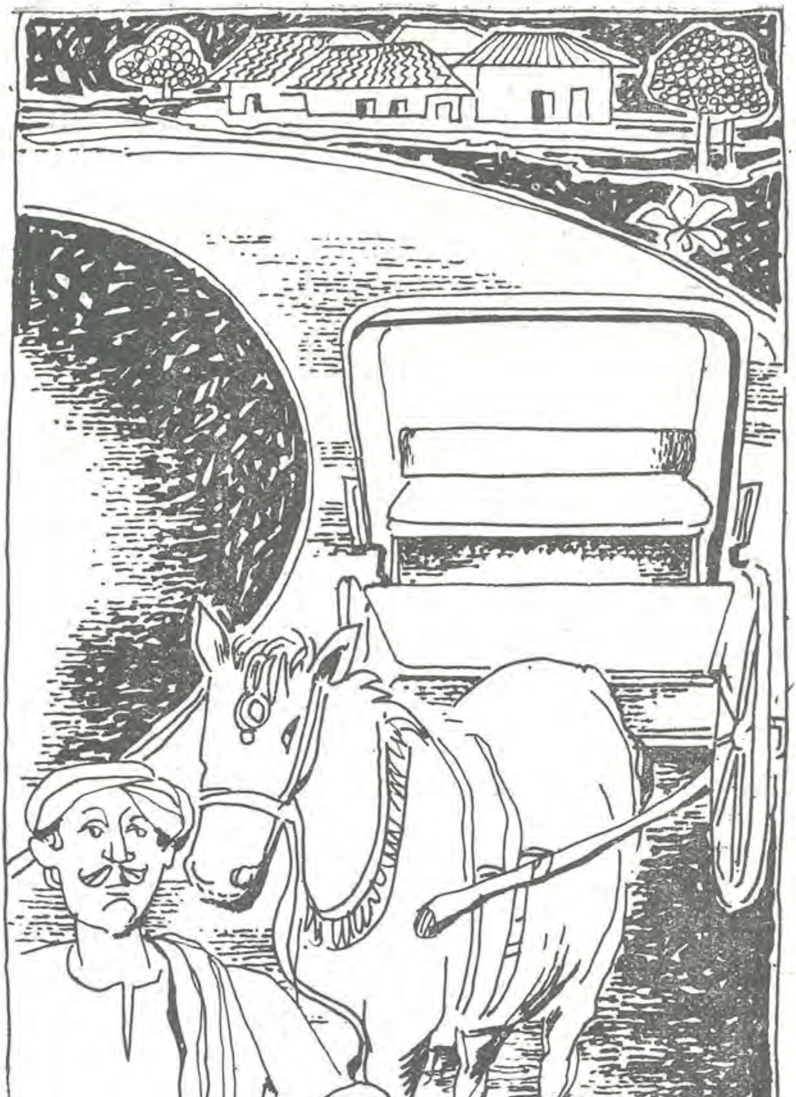

घोड़े को खाली तांगे में जोतकर सड़क पर चलाया जा रहा है ताकि सध जाए

है। यही अभ्यास है। मन रूपी घोड़े को भी मनमानी न करने देकर, इस प्रकार सिखाया जाना चाहिए कि उपयोगी सिद्ध हो सके।

जानवरों में हाथी डील-डौल और शक्ति में सबसे बढ़ा-चढ़ा होता हैं। उसे भी अंकुश द्वारा वश में रखा जाता है। जंगल का यह शक्तिशाली जानवर पालतू बनकर कितने ही काम करने लगता है।

मन के संबंध में एक सुंदर सूक्ति है—'**मन खराब मालिक और बहुत बढ़िया नौकर है।**' अभिप्राय यह है कि यदि आप अपने मन के दास बनेंगे और जैसे वह चाहेगा, वैसे करेंगे तो यह आपको दुखी करेगा। यदि यह आपके—बुद्धि के कहने सेकाम करेगा तो सब काम ठीक होंगे।

एक बार देवता, मानव और दानव—तीनों ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने तीनों को एक ही अक्षर 'द' का उपदेश दिया। 'द' अक्षर सुनते ही देवता समझ गए कि हम लोग बड़े मनमौजी स्वभाव के हो गए हैं। इसीसे प्रजापति ने हमें 'दम' अर्थात् मन के दमन करने का उपदेश दिया है।

मानवों ने सोचा, "हम लोभी हैं। इसलिए प्रजापति ने हमें 'दान' करने का उपदेश दिया है।

दानवों ने सोचा, "हम अत्यंत क्रूर और निर्दय हो गए हैं। इसलिए प्रजापति ने हमें 'दया' करने का उपदेश दिया है।

अच्छी पुस्तकें पढ़ने से, अच्छे लोगों का संग करने से तथा सादा जीवन बिताने से मन को काबू में रखने में बड़ी सहायता मिलती है।

मन पर बुद्धि का नियंत्रण रहना चाहिए। इंद्रियां रूपी घोड़ों की मन रूपी लगाम, बुद्धि रूपी सारथी के हाथ में होनी चाहिए। इंद्रियां रूपी घोड़े बेलगाम न हो जाएं, मन अपनी ही मनमानी न करने लगे, इसके लिए बुद्धि को उस पर काबू रखना चाहिए।

और बुद्धि सारथी में यह योग्यता होनी चाहिए कि वह लगाम के द्वारा घोड़ों को काबू में रखे और उसे उस मार्ग का भी पता होना चाहिए जिसपर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है। यह सारथी आत्मा रूपी रथ के स्वामी का आज्ञाकारी और हित चाहने वाला होना चाहिए। विशुद्ध बुद्धि ऐसा ही सारथी है।

अस्तेय
[चोरी न करना]

'स्तेय' चोरी को कहते हैं। चोरी के अभाव को 'अस्तेय' कहते हैं। जिस वस्तु पर दूसरे का अधिकार है, या जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे बिना स्वामी के दिए, या बिना स्वामी की अनुमति के ग्रहण करने को चोरी कहते हैं।

चोरी के कई प्रकार हैं। किसीकी वस्तु को उसके स्वामी की स्वीकृति के बिना उठा लेना 'चोरी' का मोटा रूप है। चोरी के सूक्ष्म रूप भी कई हैं। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की वस्तु को लोभ की दृष्टि से देखता है, अर्थात् वह सोचता है कि काश यह वस्तु मेरे पास भी होती या यह वस्तु मेरी हो जाती या यह वस्तु मुझे मिल जाती, यह भी मानसिक चोरी है। दूसरे व्यक्ति को चोरी करने के लिए प्रेरित करना, बात को छिपाना चोरी के ही सूक्ष्म रूप हैं।

जो स्थूल रूप से चोरी करते हैं, उन्हें तो न्यायालय से दण्ड भी मिल सकता है पर सूक्ष्म प्रकार की चोरी करने वाले कानून की दृष्टि से बचे रहते हैं।

सभ्यता के विकास के साथ चोरी के सूक्ष्म रूपों में इतनी वृद्धि हुई है कि गिनती नहीं की जा सकती।

जो लोग छोटी स्थिति के हैं, वे छोटी-छोटी चोरियां करते हैं। जैसे किसी छोटे नौकर को आपने दो रुपये का सामान खरीदने भेजा। हो सकता है, वह दस-बीस पैसे आपसे बढ़ाकर कह दे। किन्तु बड़े-बड़े लोग चोरियां भी बड़ी-बड़ी करते हैं।

रात के अंधेरे में, दीवार में सेंध लगाकर या घर में घुसकर जो चोरी की जाती है, उसे चौकीदार, जाग जाने पर घर का मालिक, रात को घूमने वाले पुलिस के सिपाही तथा पास-पड़ोस के लोग पकड़ सकते हैं। किंतु जो चोरी दिन-दहाड़े, भरे बाजार में की जाती है, उसे पकड़ना बहुत कठिन है। नकली, मिलावटी और घटिया माल असली, शुद्ध और बढ़िया कहकर बेचा जाता है। नाप-तोल में भी चोरी होती है। सेल्स-टैक्स और इन्कम टैक्स की चोरी खूब होती है। कम मूल्य की वस्तु को मूल्य बढ़ाकर बेच दिया जाता है।

ठेकेदार घटिया माल लगाने, कम माल लगाने और काम को उचित रूप में न करने की चोरी करते हैं। अधिकांश सरकारी कर्मचारी – छोटे से लेकर बड़े तक—कामचोर तो हैं हीं, जनता को तरह-तरह के उपायों द्वारा दुखी करते हैं जिससे उन्हें घूस मिल सके। अध्यापक चोरी-छिपे ट्यूशन करते हैं। यहां तक तो गनीमत है पर वे छात्रों को अनुचित रूप से विवश भी करते हैं कि वे ट्यूशन रखें। फिर वे नाममात्र को पढ़ाते हैं। और जिन कक्षाओं के प्रश्नपत्र विद्यालय में ही देखे जाते हैं, उन कक्षाओं के छात्रों को आपस की मिली-भगत के साथ पास कर दिया जाता है। बिना पढ़े पास होने वाले ये छात्र भी प्रसन्न और ट्यूशन के नाम पर घूस लेने वाले अध्यापक भी प्रसन्न। माता-पिता भी सोचते हैं कि बेटा पास हो गया। जब बेटा बड़ी कक्षा में पहुंचता है और परीक्षा के उत्तरपत्र बाहर देखने को भेजे जाते हैं तो वह एक-एक कक्षा में कई साल अटका रहता है।

बड़े खेद की बात तो यह है कि यहां बाड़ ही खेती को खा रही है। पुलिस तथा अन्य सरकारी विभाग, जिनका कार्य सरकारी नियमों का पालन करवाना है, कानून तोड़ने वालों से घूस खाकर उन्हें छोड़ देते हैं। इससे समाज में भ्रष्ट लोग मनमाना आचरण करते हैं और विभिन्न प्रकार के करों की चोरी होती है। विभिन्न विभागों के इंस्पेक्टर नाम के कर्मचारी, जिनपर कानून पालन करवाने की जिम्मेदारी है, सबसे ज्यादा भ्रष्ट हैं। यह ऊपर की कमाई का रोग सारे देश में फैला हुआ

है। अब तो लोग यह समझने लगे हैं कि यह लेन-देन सामाजिक व्यवहार का आवश्यक अंग है।

व्यापारी वर्ग में यह बात सर्वसम्मत रूप से स्वीकार कर ली गई है कि ईमानदारी से व्यापार नहीं किया जा सकता।

खर्चीली शादियां, बड़ा परिवार, फिजूलखर्ची, एक-दूसरे की देखा-देखी जीवन-स्तर ऊंचा रखने की प्रवृत्ति, नेताओं की कथनी और करनी में अंतर आदि अनेक कारण हैं, जिनसे यह रोग बढ़ता जाता है।

हमें जीवन में पग-पग पर धन की आवश्यकता पड़ती है। परिवार में और समाज में धनी लोगों का मान होता है, बीमारी और बेकारी के समय के लिए भी कुछ जमा पूंजी होनी चाहिए। आज धन उपार्जन के कितने ही नये-नये उपाय निकल आए हैं। परिश्रम और उद्योग द्वारा आप ईमानदारी से भी धन कमा सकते हैं।

छात्रावस्था जीवन की नींव है। इस समय यदि मन लगाकर विद्या सीखी जाए तो समय आने पर इसके द्वारा जीविका-उपार्जन में भी सहायता मिलती है। अब तो विद्यालयों में शिल्प शिक्षा भी दी जाती है ताकि शिक्षा पूरी करने के बाद बेकारी और बेरोज़गारी का सामना न करना पड़े।

पर कठिनाई तब पैदा होती है जब कोई बिना परिश्रम किए थोड़े ही समय में धनवान बन जाना चाहता है। जुआ खेलने वाला, लाटरी के टिकट खरीदने वाला, चोरी करने वाला, बेईमानी करने वाला, घूस लेने वाला, बिना परिश्रम किए धनवान् बन जाना चाहता है। दूसरे के पास जो कीमती चीज़ें हैं, वैसी ही मेरे पास भी होनी चाहिए, भ्रष्टाचार का प्रारंभ इस तरह सोचने से होता है। 'मैं अपने परिश्रम द्वारा जितना कमाता हूं, उसीमें संतोष करूं, यह सोचने वाला प्रलोभनों से बचा रहता है और भ्रष्टाचार की पगडंडी पर नहीं फिसलता।

संतोष के अमृत से तृप्त, शांत चित्त वालों को जो सुख मिलता है, जैसे-तैसे धन बटोरने वालों को वह सुख सपने में भी नहीं मिलता। तरह-तरह के टैक्स चुराकर, काले बाज़ार में माल बेचकर, देश की अर्थव्यवस्था को हानि पहुंचाते हुए, चोरी-छिपे विदेशी माल को देश में लाकर, दवाइयों में और खाने की वस्तुओं में मिलावट करके जो व्यापारी संपत्ति जोड़ते हैं उन्हें समय आने पर स्वयं सीखचों में बंद

होना पड़ता है। उनकी संपत्ति सरकारी खजाने में पहुंच जाती है। अखबारों के माध्यम से जो अपमान होता है वह अलग। इतने कुकर्म करके मिलेगा क्या, माथे पर कलंक का टीका।

सड़क पर पड़ी वस्तु को उठाकर घर ले आना भी अनुचित है और एक लड्डू के दो भाग करके बड़ा भाग अपने लिए रखना और छोटा दूसरे को देना भी।

साथी को बिना पूछे उसकी किसी वस्तु का उपयोग करना चोरी ही तो है। हो सकता है, आप इन छोटी-छोटी बातों को महत्त्व न दें और आपका वह मित्र भी इसे चोरी न माने जिसकी वस्तु का उपयोग आपने उससे बिना पूछे किया था परंतु है यह चोरी का ही सूक्ष्म रूप।

एक छोटा बालक पाठशाला से छोटी-मोटी चीज़ें चुरा लाता था और अपनी मां को बता देता था। मां प्रतिदिन कोई न कोई चीज घर लेते आने वाले इस बालक को बड़ा होनहार समझती थी। वह बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, बड़ा चोर बनता गया।

एक बार पुलिस ने उसे चोरी करते पकड़ लिया। जब पुलिस उसे ले जाने लगी तो उसने कहा कि मैं अपनी मां से एक बात कहना चाहता हूं। सिपाही हथकड़ी की जंजीर थामे उसे, उसकी मां के पास ले गया। उसने मां से कान में बात करने के लिए कहा। जब मां ने अपना कान उसके मुंह के पास किया तो उसने दांतों से मां का कान काट लिया। मां चीख पड़ी। मां ने कहा, "यह तूने क्या किया ? क्यों मेरा कान काटा ?"

वह चोर बेटा बोला, "मुझे चोर बनाने वाली तुम्हीं हो। बचपन में तुमने मुझे रोक दिया होता तो मैं चोर न बनता।"

हमारे पुराने ग्रंथों में चोरी के संबंध में एक बड़ी शिक्षाप्रद कहानी है।

ऋषि शंख और लिखित दोनों सगे भाई थे। पढ़-लिखकर जब वे दोनों विद्वान् हो गए तो दोनों विवाह करके अलग-अलग आश्रम बनाकर रहने लगे।

एक दिन ऋषि लिखित अपने बड़े भाई शंख से मिलने उनके आश्रम पर आए। उस समय शंख अपने आश्रम में नहीं थे। लिखित को भूख लगी थी। उन्होंने बड़े भाई के बगीचे से एक फल तोड़ा और खाने लगे। इतने में शंख आ गए। उन्होंने लिखित को फल खाते देखा

तो बोले, "लिखित, तुम धर्म की बारीकियों को खूब समझते हो। ब्राह्मण का सब-कुछ तो उसका धर्म ही है। यदि किसीकी वस्तु, उसकी अनुपस्थिति में, उसकी पूर्व अनुमति के बिना ले ली जाए तो इसे क्या कहोगे ?"

"चोरी।" लिखित ने बिना संकोच के उत्तर दिया। "मैंने आपकी अनुपस्थिति में, बिना पूर्व अनुमति लिए जो यह फल तोड़कर खा लिया, यह चोरी है। मैंने लापरवाही में यह निंदित कार्य किया है। अब मुझे बताइए कि मैं क्या करूं ?"

शंख बोले, "राजा के पास जाकर अपना अपराध बताओ और इसके लिए उनसे उचित दण्ड देने को प्रार्थना करो। इस तरह तुम इस चोरी के पाप से बच सकते हो।"

बड़े भाई के कहे अनुसार लिखित राजा के पास पहुंचे। राजा ने उन्हें प्रणाम किया और ऋषियों के योग्य आदर-सत्कार करने के लिए प्रस्तुत हुए। तब ऋषि लिखित ने निवेदन किया कि "इस समय मैं आपका सत्कार ग्रहण करने के योग्य नहीं हूं। मैं अपराधी हूं और अपराध का दण्ड लेने आया हूं।"

लिखित ने अपने अपराध की सारी बात राजा को बता दी तो राजा बोले, "जैसे राजा को दण्ड देने का अधिकार है, वैसे ही क्षमा करने का भी अधिकार है।"

लिखित ने राजा की बात नहीं मानी। बोले, "राजन् ! किस अपराध का क्या दण्ड हो, यह निर्णय करना तुम्हारा काम नहीं है। यह काम तत्त्वज्ञानी ब्राह्मणों का है। तुम्हारा काम तो बस इतना ही है कि जिस अपराध के लिए जो दण्ड निश्चित है, उसे क्रियान्वित करो।"

उस समय के दण्ड-विधान के अनुसार चोरी का दण्ड था कि चोर के दोनों हाथ काट लिए जाएं। राजा की आज्ञा से लिखित के दोनों हाथ काट डाले गए।

हाथ कटने के बाद ऋषि लिखित बड़े भैया के यहां आए और बताया कि मैं दण्ड ले आया।

दोपहर का समय था। शंख बोले कि चलो स्नान करके संध्या कर लें। दोनों भाइयों ने नदी में स्नान किया। स्नान के बाद संध्या-तर्पण का बचपन से अभ्यास था। पुराने अभ्यास के वश जब लिखित ने हाथ उठाए तो वे फिर ज्यों-के-त्यों हो गए।

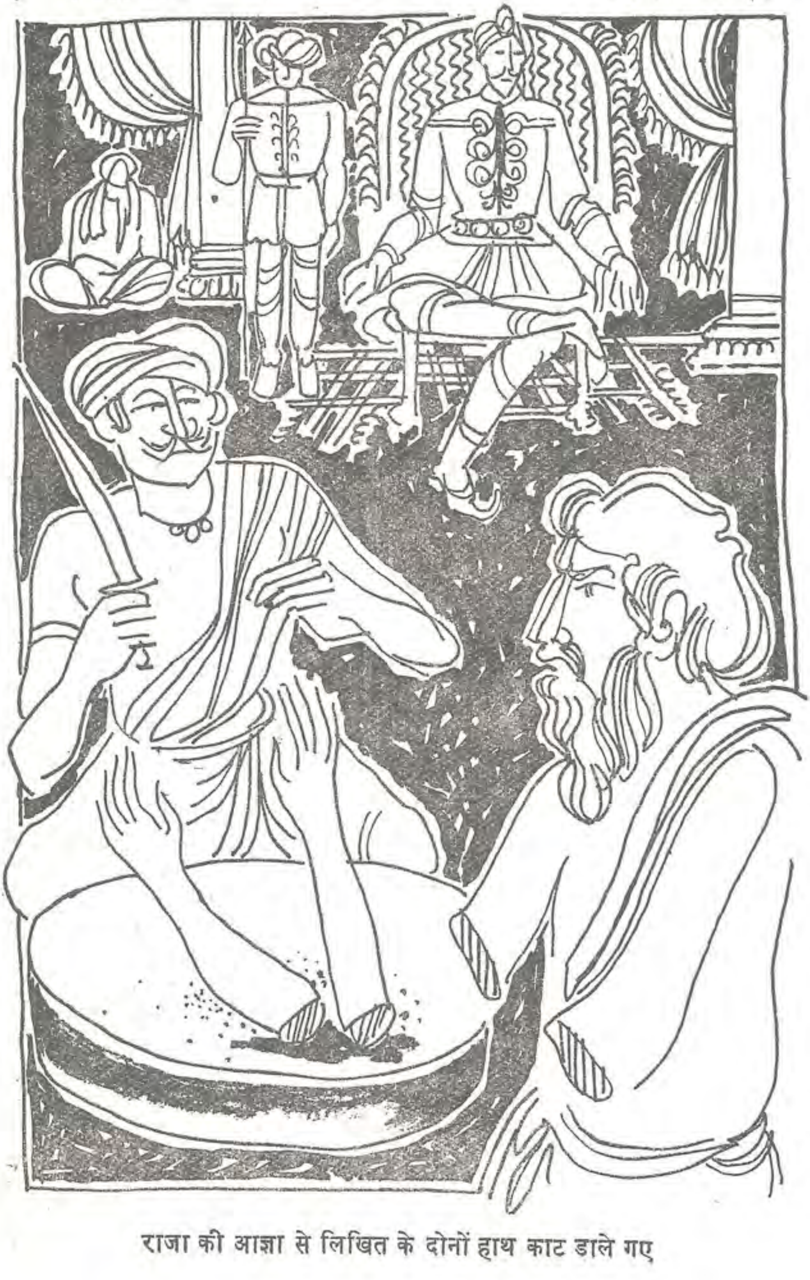

राजा की आज्ञा से लिखित के दोनों हाथ काट डाले गए

उन्होंने बड़े भैया की ओर देखकर कहा, "यह क्या चमत्कार है भैया !"

शंख बोले, "राजा का काम है दंड देना। ब्राह्मण को कृपा करने का अधिकार है।"

अस्तेय (चोरी न करना) धर्म का एक अन्य दृष्टांत भी ध्यान देने योग्य है।

सूफी संत इब्राहीम घूमते-घूमते किसीके बाग में जा पहुंचे। बाग के स्वामी ने समझा कि यह कोई साधारण मज़दूर है और काम की खोज में आया है। वह इब्राहीम से बोला, "यदि तुम कुछ करना चाहते हो तो एक माली की जगह खाली है।"

संत इब्राहीम ने मन में सोचा कि यह स्थान नगर से दूर और एकांत है। यहां भजन करने की सुविधा रहेगी। यह सोचकर उन्होंने बाग में माली की नौकरी करना स्वीकार कर लिया।

कई दिनों बाद बाग का स्वामी अपने मित्रों को लेकर बाग में आया। उसने इब्राहीम को कहा कि कुछ मीठे आम ले आओ।

इब्राहीम एक वृक्ष से पके आम तोड़ लाए और मेहमानों को खाने को दे दिए। पर ये सारे आम खट्टे थे।

मित्रों को खट्टे आम देने के लिए बाग के स्वामी ने इब्राहीम को डांटते हुए कहा, "तुझे इतने दिन यहां रहते हो गए और अभी तक यह भी पता नहीं लगा कि किस पेड़ के फल खट्टे हैं और किसके मीठे ?"

संत इब्राहीम ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "आपने मुझे माली के काम पर रखा है। फल खाने की आज्ञा तो नहीं दी है। आपकी आज्ञा के बिना मैं बाग के फल कैसे चख सकता हूं ! और बिना चखे खट्टे-मीठे का पता कैसे लग सकता है ?"

बाग का स्वामी इब्राहीम का उत्तर सुनकर उसका मुंह देखता रह गया। पराई वस्तु के प्रति निर्लोभता का यह उज्ज्वल दृष्टांत है।

हमारे धर्माचार्यों ने 'अस्तेय' धर्म के पालन के लिए कहा है कि दूसरे के धन को मिट्टी की तरह देखे-समझे।

मिट्टी तो सब जगह पड़ी रहती है। कौन उसे उठाकर घर लाता है। पर दूसरे की वस्तु को मिट्टी देखना-समझना तब तक संभव नहीं है, जब तक व्यक्ति को अपनी ही कमाई पर संतोष न हो। अपनी कमाई

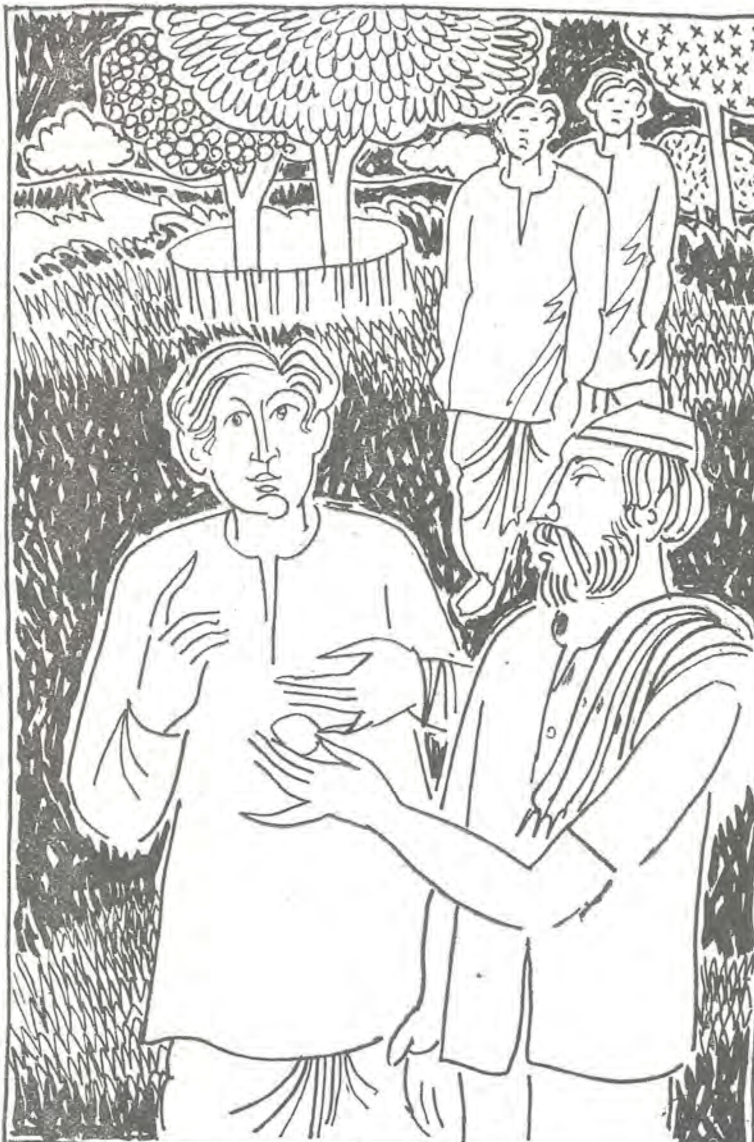

इब्राहीम बाग के मालिक से कह रहे हैं कि आपकी
आज्ञा के बिना मैं फल कैसे खा सकता हूं ।

से ही संतुष्ट रहने के लिए 'सादा जीवन और उच्च विचार' वाली बात को मानकर चलना पड़ेगा।

यदि कोई व्यक्ति दूसरों की धन-संपत्ति को देखकर ईर्ष्या से जलने लगे और स्वयं धनवान् बनने के लिए भ्रष्ट उपायों से धन इकट्ठा करने लगे तो एक दिन उसका पतन निश्चित है।

यदि किसीके कीमती कपड़ों को देखकर, ऊंचे भवन को देखकर, भवन में रखे सुख-सुविधा के साधनों को देखकर, आभूषणों और ठाट-बाट को देखकर, गाड़ी, धन-संपत्ति और फिजूलखर्ची को देखकर किसी के मन में अनुचित उपायों द्वारा वैसा ही बनने की लालसा जाग उठती है तो वह 'अस्तेय' धर्म का पालन कैसे कर सकेगा!

भगवत् पाद शंकराचार्य ने कहा है कि अपने परिश्रम से तुम जितना कमा पाते हो, उसीसे प्रसन्न रहो।

'देख पराई चूपड़ी मत ललचावे जी' का भी अभिप्राय यही है कि दूसरे की उन्नति या धन-समृद्धि देखकर दुखी मत होओ।

जरा सोचिए कि कोई व्यक्ति यदि दूसरों को देखकर ईर्ष्या की आग में जलने लगे तो उसकी क्या दशा होगी। क्योंकि जिनको देखकर उसके मन में ईर्ष्या हो रही है, वे भी अपने से अधिक धनवालों से ईर्ष्या करते हैं और यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता। महात्मा टालस्टाय ने एक बड़ी सुन्दर कहानी लिखी है। एक आदमी को कहा गया कि तुम सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक जितनी धरती का चक्कर लगा लोगे, वह तुम्हें दे दी जाएगी।

वह आदमी ठीक सूर्योदय के समय एक बड़े भूमिभाग का चक्कर लगाने के लिए दौड़ पड़ा। वह दिनभर बिना रुके, बिना खाए-पिए दौड़ता रहा। उसने मीलों धरती का चक्कर लगाया और जब सूर्यास्त होने को था तो वह चक्कर पूरा करने वाला ही था। पर उसने सोचा, अभी पांच-सात मिनट बाकी हैं। थोड़ी धरती और घेरे में ले लूं। और अभी वह चक्कर पूरा नहीं कर पाया था कि दौड़ता-दौड़ता गिर पड़ा और मर गया।

मनुष्य के लोभ का कहीं अन्त है क्या!

एक अन्य बोधप्रद कथा सुनिए :

भक्त राका कभी किसीसे कुछ नहीं मांगते थे। भगवान् पर उनका

दृढ़ विश्वास था। उनकी पत्नी का नाम था बांका। वह भी पति की ही तरह भक्तिभाव वाली थी। दोनों प्रतिदिन जंगल में जाकर सूखी लकड़ियां ले आते और उन्हें बेचकर जो कुछ मिलता, उसीसे जीवन-निर्वाह करते।

एक दिन वे दोनों जंगल की ओर जा रहे थे। राका कुछ आगे थे और बांका पीछे आ रही थीं। मार्ग में सोने की मोहरों से भरी थैली पड़ी हुई थी। भक्त राका का पैर थैली से टकराया तो मोहरें खनक उठीं और दृष्टि नीचे गई तो खुले मुंह पड़ी मोहरों की थैली दिखाई दी।

राका ने झुककर जल्दी-जल्दी थैली के ऊपर धूल डालनी प्रारंभ कर दी। इतने में पीछे चलती भक्तिमती बांका भी आ पहुंची।

पति को दोनों हाथों से धूल उठाकर थैली पर डालते देखकर बोली, "आप यह क्या कर रहे हैं?"

भक्त राका ने पहले तो बात को टालने का प्रयत्न किया, पर जब बांका नहीं मानी तो बोले, "सोने की मोहरों से भरी थैली पड़ी है। मैंने सोचा, कहीं तुम्हारे मन में इन्हें उठा लेने का विचार न आ जाए, इसलिए ढक रहा हूं।"

सन्तोष की साक्षात् देवी बांका हँस पड़ीं, "मिट्टी पर मिट्टी डालने से क्या लाभ!"

दूसरे के द्रव्य को, या जो अपनी कमाई का नहीं है, उस धन को मिट्टी समझने और देखने की यह सच्ची कथा ध्यान देने योग्य है।

महाभारत में लिखा है कि जो लोग अनुचित उपायों द्वारा धन का संग्रह करते हैं, उनके धन को एक तो सरकार छीन लेती है। दूसरे, चोर चुरा लेते हैं। तीसरे, सगे-सम्बन्धी उसमें हिस्सा मांगने के लिए लड़ने-झगड़ने लगते हैं। चौथे, दूसरे लोगों की नजरें भी ऐसे धन पर टिकी रहती हैं और छल-छिद्र द्वारा लोग उसे हड़पने का प्रयत्न करते हैं। पांचवें, खर्च होते रहने से भी वह घटता रहता है। जो धनवान् हैं, वे सरकार के भय और चोरों के भय से रात को सो भी तो नहीं पाते। सेठों को यह भय भी लगा रहता है कि उनकी कमाई को उनके बेटे फिज़ूलखर्ची में नष्ट कर देंगे।

दूसरों का शोषण करके कमाया हुआ धन, टैक्सों की चोरी से बचाया हुआ धन और अत्यन्त कष्टपूर्ण जीवन बिताकर जोड़ा हुआ धन

कभी भी सुख का कारण नहीं बन सकता। उससे सुख के बजाय चिन्ता ही बढ़ेगी।

यह अर्थ वैसे भी अनेक अनर्थों की जड़ है।

अपने उद्योग और परिश्रम द्वारा ही धन कमाना चाहिए। अपने राष्ट्र की वित्त-व्यवस्था को क्षति पहुंचाकर, अपने देशवासियों का शोषण करके तथा जो दान के पात्र हैं, उन्हें न देकर संचय किया हुआ धन पतन का ही कारण बनता है।

उपनिषद् के ऋषि-वचन को ध्यान में रखकर त्यागपूर्वक ही धन का उपभोग करना चाहिए।

अस्तेय धर्म को बारीकी के साथ समझने की आवश्यकता है। जो वस्तु हमें जिस काम के लिए मिली है, उसका उपयोग उसी काम में करना और उससे भिन्न काम में न करना और स्वार्थ के लिए न करना, यह है सच्चा 'अस्तेय' धर्म।

खलीफा हज़रत अली राज-काज के कागज-पत्र देख रहे थे। इतने में कुछ सरदार किसी निजी कार्य से उनसे मिलने आए। हजरत अली जिस दीपक की लौ में काम रहे थे, उसे बुझाकर और दूसरा जलाकर उनसे बातें करने लगे। बातें समाप्त होने पर दूसरे दीपक को बुझाया और पहले को जलाकर फिर कार्य करने लगे।

सरदारों ने जब हज़रत से इसका कारण पूछा तो वे बोले, "जब आप आए, मैं सरकारी काम कर रहा था। किंतु निजी बातों में सरकारी तेल जलाना उचित नहीं था।"

आज स्थिति कितनी भिन्न है, यह किसीसे छिपा नहीं है। लोग इतने महान् हो गए हैं कि इस जैसी छोटी-मोटी बातों की चिंता ही नहीं करते।

'अस्तेय' धर्म का अन्य महत्त्वपूर्ण रूप भी है। यह है आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करना। यह भी कह सकते हैं कि समाज का एक हिस्सा यदि पेट-भर भोजन भी नहीं कर पाता और कुछ धनिकों के घरों में जूठा अन्न नालियों में बहाया जाता है तो यह भी एक प्रकार का अधर्म है। जिस कार्य द्वारा समाज में गरीबी और अमीरी का अंतर बढ़ता जाए, वह कार्य निश्चित रूप से सामाजिक जीवन के लिए हानिकारक है और अधर्म है। तभी तो उपनिषदों के ऋषि ने त्यागपूर्वक ही भोग करने की सलाह दी है। और भगवान्

श्रीकृष्ण ने तो गीता में यहां तक लिख दिया है कि जो केवल अपना ही पेट भरने के लिए रसोई बनाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं। अभिप्राय यह है कि आपके घर में जो भोजन पकता है, उसमें समाज के दीन, असहाय, अपंग और अवश लोगों का भाग अवश्य होना चाहिए।

हज़रत मुहम्मद के जीवन की एक घटना है। एक बार वे अपनी पुत्री फातिमा से मिलने उसके घर गए। घर में घुसते ही उन्होंने फातिमा के हाथ में चांदी के कड़े और लटकता हुआ रेशमी पर्दा देखा।

कुछ भी कहे-सुने बिना मुहम्मद साहब तुरंत घर से बाहर निकल गए और पास की मस्जिद में जाकर रोने लगे।

अपने पिता को इस तरह तुरंत वापस जाते देखकर फातिमा चिंता में पड़ गई। उसने अपने पुत्र हसन से कहा, "ज़रा जाकर देखो तो तुम्हारे नाना भीतर आकर एकदम वापस क्यों चले गए ?"

हसन दौड़ता-दौड़ता मस्जिद में गया तो क्या देखता है कि मुहम्मद साहब रो रहे हैं। उसने पास जाकर पूछा, "नानाजी, आप घर में आकर तुरंत वापस क्यों चले आए ? और रो क्यों रहे हैं ?"

मुहम्मद साहब ने कहा, "यहां मस्जिद के सामने लोग भूख से तड़पते हैं और वहां मेरी बेटी ने चांदी के कड़े पहन रखे हैं और रेशमी परदा टांग रखा है। यह देखकर मारे लज्जा के मैं बाहर निकल आया।"

हसन ने जब वापस आकर मां से यह बात कही तो फातिमा ने तुरंत चांदी के कड़े उस रेशमी पर्दे में लपेटकर अपने पिता को भिजवा दिए। मुहम्मद साहब ने उन्हें बेचकर रोटियां मंगवाईं और गरीबों को बांट दीं। उसके बाद वे फिर अपनी लड़की के घर गए और बोले, "अब तू मेरी सच्ची बेटी है।"

श्री रविशंकर महाराज के एक छोटे-से प्रवचन से इस विषय को और भी बारीकी के साथ समझने में सहायता मिलेगी :

एक संन्यासी यात्रा करते-करते किसी गांव के पास से निकला। सामने से एक किसान स्त्री बरतन में दूध लिए चली आ रही थी। साधु को देखकर स्त्री के मन में विचार आया कि इन्हें थोड़ा दूध पिलाऊं। उसने साधु के चरण छूकर कहा, "महाराज, दूध पीयेंगे ?"

साधु ने कहा, "पी लेंगे।"

साधु ने अपना कमण्डल आगे बढ़ा दिया और वह स्त्री उसमें दूध उंडेलने लगी।

किसान स्त्रियों का स्वभाव होता है कि वे दूध उंडेलते समय मलाई को फूंक मारकर रोक लेती हैं। वह स्त्री भी फूंक मार-मारकर मलाई को गिरने से रोक रही थी। पर हुआ यह कि स्त्री जरा-सी चूक गई और सारी-की-सारी मलाई साधु बाबा के कमण्डल में जा गिरी। सारी मलाई को गिरते देख उस स्त्री के मुंह से अनायास 'ओह !' शब्द निकल गया।

साधु यह सब ध्यान से देख रहा था। उसने कहा, "माई ! दूध उंडेलना बंद करो। मुझे तुम्हारा दूध नहीं चाहिए।"

"नहीं महाराज ! दूध तो पीना ही पड़ेगा।"

"माई ! दूध तो मैं पी लेता पर इसमें तुम्हारी 'ओह !' पड़ गई है। इस दूध को पीने से मेरा हाड़-मांस का शरीर तो पुष्ट होगा किंतु मेरी आत्मा कठोर बनेगी।"

बात वैसे मामूली है किंतु इसमें गंभीर अर्थ भरा पड़ा है। हम जो कुछ खाते हैं, उसमें किस-किसकी और न जाने कितनी 'हाय' पड़ी होती है, इसका क्या हम कभी विचार करते हैं ! आज की हमारी आय कहां से आती है और किस तरह आती है, इसका क्या हमने कभी विचार किया है ! घी लेने जाते हैं तो उसमें यदि ज़रा भी छाछ हो तो घी नहीं लेते। तेल खरीदते हैं तो उसकी गंध को सूंघकर शुद्ध-अशुद्ध का निर्णय करते हैं। यदि शुद्ध तेल की गंध न आई तो नहीं खरीदते हैं। घड़ा खरीदने जाते हैं तो खूब ठोक-बजाकर देखते हैं कि इसमें कहीं दरार तो नहीं है, छिद्र तो नहीं है। किंतु घर में जब लक्ष्मी आती है तब हम नज़र फेर लेते हैं और कहते हैं "आने दो।" तब हम इस बात का विचार नहीं करते कि वह कैसी है। किस तरह आई है। न्याय से आई है या किसीका शोषण करके अनीति से आई है। परिश्रम से आई है या बिना मेहनत किए आई है।

हम जो अन्न खाते हैं, उससे केवल इस शरीर का ही पोषण नहीं होता बल्कि मन, बुद्धि और चित्त का भी पोषण होता है। इसीलिए तो ऋषि-मुनियों ने कहा है कि आहार शुद्ध होने पर अंतःकरण शुद्ध होता है।

शौच
[पवित्रता]

शौच अर्थात् पवित्रता, शुद्धता, स्वच्छता, निर्मलता।

निर्मलता साधारणतः दो प्रकार की होती है—बाहर की और भीतर की। बाहर की शुद्धता में शरीर की शुद्धता, वस्त्रों की शुद्धता, स्थान की शुद्धता और खान-पान की शुद्धता सम्मिलित है।

भीतर की निर्मलता में मन की निर्मलता और बुद्धि की विशुद्धता सम्मिलित है।

अब हम प्रत्येक शुद्धता पर अलग-अलग विचार करेंगे।

बाहर की शुद्धता

१. **शरीर की शुद्धता**—इसमें दातुन द्वारा दांतों की और स्नान द्वारा सारे शरीर की शुद्धता सम्मिलित है। नाखूनों को न बढ़ने देना और साफ रखना तथा बालों में कंघी करना भी उसीका अंग है। गन्दी वस्तुओं को तथा छूत के रोग फैलाने वाली वस्तुओं को न छूना और उनसे दूर रहना चाहिए।

ऐसे भोजनालयों में बना भोजन, जहाँ स्वच्छता का ध्यान नहीं रखा जाता, नहीं खाना चाहिए। चाय तथा पानी में भी इस बात का

ध्यान रखा जाना चाहिए। अच्छी तरह साफ न किए बर्तनों में भी भोजन नहीं करना चाहिए। जो बात भोजन के लिए है, वही मिठाई तथा फल आदि के संबंध में भी समझनी चाहिए। दूसरे का जूठा खाने से, बासी तथा मक्खियों द्वारा अशुद्ध किया भोजन खाने से रोग होकर स्वास्थ्य चौपट होने का डर बना रहता है।

भोजन भूख लगने पर तथा कुछ भूख छोड़कर करना चाहिए। भोजन हल्का, सुपाच्य और स्वास्थ्यवर्द्धक भी होना चाहिए। पेट की स्वच्छता पूर्ण स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वायु की स्वच्छता पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए पर उसकी अधिक उपेक्षा की जाती है। यह ठीक है कि वायु की पूर्ण शुद्धि किसी एक व्यक्ति के प्रयत्न से सम्भव नहीं है। फिर भी घर के कमरों की वायु को खिड़कियां खुली रखकर, घर को साफ रखकर तथा अगरबत्ती आदि सुगंधित पदार्थ जलाकर यथासंभव शुद्ध रखा जा सकता है।

हम श्वास द्वारा जो वायु भीतर लेते हैं, वह यदि अशुद्ध हो, उसमें धूल, रोगों के कीटाणु और दुर्गन्ध हो तो कितने ही रोग पैदा हो सकते हैं। वायु का ताज़ा होना भी आवश्यक है। बन्द कमरों की वायु में बार-बार श्वास लेने और छोड़ने से वह अशुद्ध हो जाती है। दरवाज़े, खिड़कियां और रोशनदान खुले रखने से कमरों में ताज़ी वायु आती रहती है और श्वास द्वारा छोड़ी हुई वायु बाहर निकलती रहती है।

बहुत ठण्डी या बहुत गर्म वायु भी शरीर को हानि पहुंचाती है। आप जानते ही हैं कि श्वास मुंह बंद रखकर केवल नाक द्वारा ही लेना चाहिए। इसका कारण यह है कि नाक के भीतर के बाल और लेसदार ग्रंथियां वायु में मिले धूल के कणों तथा रोग के कीटाणुओं को भीतर नहीं जाने देतीं। ठंडी वायु नाक की गर्मी से कुछ गर्म भी हो जाती है। वह जब फेंफड़ों में पहुंचती है तो इतनी ठंडी नहीं रह जाती कि रोग पैदा कर सके। किंतु वही वायु जब मुंह के बड़े मार्ग से फेफड़ों में जाती है तो धूल के कणों और रोग के कीटाणुओं को भीतर पहुंचा देती है। उसकी ठंडक भी कम नहीं होती और फेफड़े सर्दी पकड़ लेते हैं। फलस्वरूप फेंफड़ों के रोगों का जन्म होता है।

वायु जब अधिक गर्म होती है तो लू का रूप धारण कर लेती है। लू लगने से तीव्र ज्वर के अतिरिक्त मृत्यु तक का भय हो जाता है।

२. **वस्त्रों की शुद्धता**—वस्त्र धुले हुए हों, यह तो आवश्यक है ही, उनका ऋतु के अनुकूल, शरीर के अनुकूल और ठीक सिले होना भी जरूरी है। वे न तो इतने तंग हों कि शरीर से चिपके हुए लगें और न इतने ढीले कि ऐसा लगे, जैसे किसी दूसरे से मांगकर पहन लिए हों। वस्त्रों का रंग भी आंखों में चुभनेवाला नहीं होना चाहिए।

संस्कृत में एक सूक्ति है कि जिसकी कमाई पवित्र है, वास्तव में वही पवित्र कहा जा सकता है। यह बात कुछ सूक्ष्म विचार की अपेक्षा रखती है और लोगों की समझ में कम आती है।

परिश्रमपूर्वक कमाए हुए धन का अपव्यय नहीं किया जा सकता। और सच तो यह है कि परिश्रमपूर्वक कमाई करने पर लाखों की सम्पत्ति कठिनाई से ही जुट पाती है। फिर उसका अपव्यय करना भी कठिन होता है। किंतु दूसरों के शोषण द्वारा तथा चोरी, बेईमानी और घूसखोरी में प्राप्त धन जैसे आता है, वैसे ही चला भी जाता है और जिनके पास रहता है, उन्हें कुपरिणाम भी भोगने पड़ते हैं। धनिकों की सन्तान धन के अपव्यय के कारण बिगड़ती देखी गई है। तरह-तरह के व्यसन धन के दुरुपयोग से जन्म लेते हैं।

फिर 'जैसा अन्न, वैसा मन' की बात भी है। जो पाप की कमाई खाते हैं, उनकी बुद्धि पापपरायण हो जाती है।

जिस मनुष्य की जीविका के साधन पवित्र नहीं हैं, अर्थात् जो दूसरों को दुःख देकर, उनका शोषण कर केवल छल-छिद्र द्वारा कमाई करता है, वह बाहर चाहे कितनी सफाई रखे, पवित्र नहीं माना जाएगा।

हो सकता है कि आपने पाप की कमाई वालों को खूब फलते-फूलते देखा हो और सोचा हो कि मेहनत की कमाई में निर्वाह करनेवाले तो कष्टपूर्ण जीवन बिताते हैं और पाप की कमाई वाले खूब मजे उड़ाते हैं।

इस बारे में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। ऊपर जो दिखाई देता है कि वे मजे उड़ा रहे हैं, क्या इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि वे खूब खर्च करते हैं या यह भी कि उनके मन में शान्ति है? अब उन्हें धन की लालसा है या नहीं? यह भी देखें कि उनकी सन्तान सच्चरित्र है या नहीं? वह ठीक से पढ़-लिख रही है क्या?

क्या आपने ऐसे लोगों को नहीं देखा जो पाप की कमाई के कारण

पहले तो खूब फले-फूले, किंतु बाद में सब-कुछ नष्ट हो गया ?

सच्चरित्र व्यक्ति की यह भी एक पहचान है कि वह अन्याय द्वारा एकत्र की हुई समृद्धि को देखकर ईर्ष्या नहीं करता। उसे अपनी परिश्रम की कमाई से ही सन्तोष होता है।

कबीर कह गए हैं :

देख पराई चूपड़ी, मत ललचावे जी ॥

परिश्रम की कमाई और बिना परिश्रम किए मिले रुपयों में जो अंतर होता है उसपर प्रसिद्ध कहानीकार स्वर्गीय सुदर्शन जी ने एक बड़ी सुन्दर कहानी लिखी है।

एक नवयुवक कुछ काम नहीं करता था। उसके पिता ने उसे कहा कि शाम तक कुछ कमाकर लाओ नहीं तो भोजन नहीं मिलेगा। वह मां के पास जाकर गिड़गिड़ाया तो मां ने उसे कुछ रुपये दे दिए। उस युवक ने वही रुपये शाम को पिताजी को दे दिए। पिता बड़ी सूझ-बूझ वाले थे। उन्होंने वे रुपये कुएं में फेंक दिए। फिर उन्होंने अपनी पत्नी को मायके भेज दिया।

इसके बाद लड़के को फिर कहा कि कुछ कमाकर लाओगे तो ही शाम को भोजन मिलेगा।

लड़का मायके आई बड़ी बहन के पास जाकर गिड़गिड़ाया तो बहन ने भी भाई को कुछ रुपये दे दिए।

शाम को लड़के ने रुपये पिता के पास दिए तो उन्होंने फिर कुएं में फेंक दिए और पुत्री को ससुराल भेज दिया। अब घर में रह गए बाप-बेटा।

बेटे को फिर आदेश मिला कि शाम तक कुछ कमाकर लाओगे तभी भोजन मिलेगा।

लड़का सुबह ही घर से निकल पड़ा। पर कमाना तो उसने सीखा ही नहीं था। वह दिन-भर इधर-उधर काम ढूंढ़ता रहा, पर किसीने भी उसे कोई काम नहीं दिया।

अंत में वह स्टेशन की ओर गया। वहां किसीका भारी बोझ उठाकर उसने चवन्नी कमाई। बोझ उठाने से उसकी कमर दुखने लगी। पसीने से कपड़े भीग गए।

शाम को घर पहुंचकर उसने चवन्नी पिता के हाथ में दी तो उन्होंने पहले की ही तरह कुएं में फेंक दी।

पिता ने जब चवन्नी कुएं में डाल दी तो लड़का उबल पड़ा।

पहले रुपये कुएं में फेंकने पर जो चुपचाप देखता रहा था, आज चवन्नी के फेंकने पर उबल पड़ा कि चवन्नी को कमाने में अभी तक मेरी कमर दुख रही है और आपने उसे कुएं में फेंक दिया।

पिता समझ गए कि यह चवन्नी वास्तव में इसकी मेहनत को कमाई थी।

देख लिया आपने अन्तर! अन्याय द्वारा प्राप्त की हुई वस्तु या अन्याय से कमाए हुए धन से खरीदी हुई वस्तु अशुद्ध है, अपवित्र है, बुद्धि को भ्रष्ट करने वाली है।

३. **स्थान की शुद्धता**—यदि आपका घर साफ-सुथरा और हवादार हो, उसमें धूप भी आती हो किन्तु आपका पड़ोस गन्दा हो, तो आपका घर स्वच्छ होते हुए भी गन्दगी से आपका पीछा नहीं छूटेगा।

यदि पड़ोस में गन्दे पानी का जमाव हो तो उसमें सड़ांध के अतिरिक्त मच्छर भी पैदा होंगे और स्वास्थ्य के लिए खतरा बना रहेगा।

बहुत-से लोग अपने घर का कूड़ा-कचरा उठाकर सड़क पर फेंक देते हैं। यह बहुत ही बुरी आदत है।

लोग केला आदि फल खाकर, छिलके राह में फेंक देते हैं। इससे दूसरों के फिसलकर गिरने का डर तो रहता ही है, गन्दगी भी फैलती है और यह देखने पर भी बड़ा कुरुचिपूर्ण लगता है।

सर्दियों में जब खांसी-जुकाम का ज़ोर होता है, असभ्य लोग जगह-जगह कफ थूक देते हैं और नाक सिनक देते हैं। यह कितना कुरुचिपूर्ण है! इसी प्रकार मूत्रालयों का उपयोग न करके सड़क के किनारे मूत्र-विसर्जन करना असभ्यता ही है।

जहां सफाई की व्यवस्था नगरपालिका के जिम्मे हो, वहाँ के जागरूक नागरिकों का कर्तव्य है कि यदि सफाई ठीक न हो रही हो, तो अधिकारियों को पत्र लिखकर सूचित करें।

मन और बुद्धि की विशुद्धता

सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीराम से कहलवाया है:

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मन कैसे निर्मल होता है, इसपर सोच-विचार करना चाहिए।

मनु महाराज कहते हैं :

अभ्द्रिगात्राणि शुहृदयन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

इस श्लोक का अर्थ है : पानी से अंगों की शुद्धि होती है। सत्य से मन शुद्ध होता है। सद्‌विद्या और तपस्या द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है और ज्ञान द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है।

जो मनुष्य सच्ची बात मन में विचारता है, सच ही बोलता है और कर्म भी वैसा ही करता है, उसका मन शुद्ध रहता है।

हमारे सारे कार्य-व्यवहार की नींव तो हमारे विचार ही हैं। क्योंकि मन में सोचे हुए को वाणी से कहा जाता है। फिर जो कहा - वैसा ही काम भी किया जाएगा और जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल भी मिलेगा। यह पहचान है सच्चे आदमी की। और जो दुरात्मा है, वह मन में कुछ सोचता है, दूसरों से कुछ और कहता है और करता कुछ और ही है।

निर्मल मन के साथ बुद्धि भी शुद्ध होनी चाहिए। बुद्धि शुद्ध होती है ज्ञान से। गीता में कहा है कि ज्ञान जैसी पवित्र दूसरी कोई चीज़ नहीं है। यहां 'ज्ञान' का अभिप्राय लौकिक ज्ञान से नहीं है। इसका अभिप्राय आत्मज्ञान है।

महाभारत में उन लोगों को स्पष्ट चेतावनी दी गई है जो समझते हैं कि बाहर से शुद्ध होना ही पर्याप्त है। कहा है :

हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! 'आत्मा' ही नदी है। उसमें 'संयम' ही पवित्र तीर्थ है। इस नदी में 'सत्य' का जल, 'शील' का घाट और 'दया' की लहरें हैं। इस नदी में नहाने से अन्तरात्मा की शुद्धि होती है, पानी में नहाने से नहीं।

धर्म-ग्रन्थों में मन की निर्मलता के लिए अनेक साधन बताए गए हैं। एक स्थान पर पाँच प्रकार की पवित्रता आवश्यक बताई गई है—

१. मन की पवित्रता, २. कर्म की पवित्रता, ३. कुल की पवित्रता, ४. शरीर की पवित्रता, और ५. वाणी की पवित्रता।

१. मन की पवित्रता—अभिमान, बैर, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ

और ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से मन की पवित्रता नष्ट होती है। इसलिए इन दुर्गुणों से बचना चाहिए।

२. **कर्म की पवित्रता**—संक्षेप में कहें तो जो कर्म ऊपर बताए दुर्गुणों से प्रेरित होकर किए जाते हैं, वे अपवित्र कर्म हैं। इनसे बचना चाहिए।

३. **कुल की पवित्रता**—जिन कुलों में कुल-कलंक सन्तान पैदा होती है, वे कुल अपवित्र हो जाते हैं। जो कुल के शास्त्रविहित धर्म और मर्यादा का पालन नहीं करते, वे कुल को अपवित्र करते हैं। जैसे पिता के गुण पुत्र को आनुवंशिकता के कारण उत्तराधिकार में मिलते हैं, वैसे ही दुर्गुण भी। यह सर्वसम्मत बात है कि पूर्वजों के अनेक रोग उनके उत्तराधिकारियों में भी पाए जाते हैं। इसलिए पापाचरण से कुल के अपवित्र होने की बात कही गई है।

४. **शरीर की पवित्रता**—न छूने योग्य चीज़ों को छूने से, पसीने, धूल आदि से शरीर अपवित्र होता है। स्नान द्वारा शरीर शुद्ध होता है।

५. **वाणी की पवित्रता**—झूठ, निन्दा, अपनी प्रशंसा, गाली-गलौज, कड़वी बात, व्यर्थ के बकवाद, चापलूसी तथा वाद-विवाद से वाणी अपवित्र होती है। इसलिए इन दुर्गुणों से बचकर और वाणी को पवित्र करनेवाले गुणों—सच बोलना, किसीकी निंदा और अपने मुंह अपनी प्रशंसा न करना, अपशब्द न बोलना, मीठी और हितकारी बात बोलना, वाद-विवाद से बचना, अच्छे ग्रंथों को पढ़ना, मौन तथा भगवान् के पावन नामों तथा गुणों का कीर्तन वाणी को पवित्र करता है।

इन्द्रिय-निग्रह
[संयम]

इन्द्रियां दस हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां।

जिन इन्द्रियों द्वारा हम बाहर की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें ज्ञानेन्द्रियां कहते हैं। और जिन इन्द्रियों के द्वारा तरह-तरह के काम करते हैं, उन्हें कर्मेन्द्रियां कहते हैं।

१. आंख, २. कान, ३. नाक, ४. रसना (जीभ) और ५. त्वचा (खाल) ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं।

१. जीभ, २. हाथ, ३. पैर, ४. लिंग और ५. गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं।

इनमें जीभ ऐसी इन्द्रिय है जो दो काम करती है। जीभ से हमें खट्टे-मीठे आदि स्वाद का ज्ञान होता है। इसलिए वह ज्ञानेन्द्रिय है और जीभ से हम बोलने का काम भी करते हैं, इसलिए जीभ कर्मेन्द्रिय भी है।

इन इन्द्रियों को वश में रखना 'इन्द्रिय-निग्रह' है। निग्रह का पर्यायवाची शब्द है 'नियंत्रण'। नियंत्रण को अंग्रेजी में 'कंट्रोल' कहते हैं। 'कंट्रोल' शब्द का प्रयोग हमारे व्यवहार में प्रतिदिन होता है।

जब सरकार किसी वस्तु पर 'कंट्रोल' करती है तो नागरिक उस वस्तु का मनमाना उपयोग नहीं कर पाते। फिर भी, आवश्यकता के

अनुसार वह वस्तु मिल सके इसकी व्यवस्था सरकार करती है। ऐसा नहीं है कि कंट्रोल की वस्तु किसीको मिलेगी ही नहीं।

भगवान् की सृष्टि में मानव सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है। भगवान् ने अपनी इस सर्वश्रेष्ठ रचना मानव-प्राणी को ये इन्द्रियां दी हैं तो इनका सदुपयोग अवश्य होना चाहिए। इन इन्द्रियों की कार्य-शक्ति को नष्ट कर देना कोई समझदारी का काम नहीं कहा जा सकता। धर्म-ग्रंथों में ऐसा भी लिखा है कि भगवान् ने इस जगत् की रचना की और स्वयं भी इसी जगत् में प्रविष्ट हो गए। इसलिए यह जगत् जगन्नाथ की ही मूर्ति है।

मानव-देह के बारे में लिखा है कि यह 'देवालय' है। देवता का घर—मंदिर। मंदिर तो खूब स्वच्छ-पवित्र होना चाहिए। भला जिस मंदिर में 'आत्मदेव' का निवास हो, उसकी उपेक्षा कोई क्यों करें। इस मंदिर में कई द्वार हैं। इन द्वारों से आत्मदेव की पूजा-उपासना करने वाले ही भीतर आएं, दूसरे नहीं, ऐसी व्यवस्था करनी होगी।

कठोपनिषद् में एक बड़ा सुंदर रूपक है। उस रूपक द्वारा हम इन्द्रिय निग्रह की बात को समझें।

यह शरीर एक रथ है। इस रथ का स्वामी आत्मा है जो रथ पर बैठा हुआ है। बुद्धि इस रथ को चलाने वाला सारथि है। मन रूपी लगाम बुद्धि रूपी सारथि के हाथ में है। इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। जो इन्द्रियों के विषय हैं, अर्थात् आंखों का काम है रूप को देखना, कानों का काम है शब्द को सुनना, नाक का काम है गंध को सूंघना। इसी प्रकार जीभ का काम है खट्टे-मीठे-कड़वे स्वाद को बताना और त्वचा (चमड़ी) का काम है ठंडे-गर्म आदि का ज्ञान कराना।

ये इन्द्रियां जिन-जिन कामों के लिए ईश्वर ने बनाई हैं, ये उन-उन कामों को करेंगी ही। इन्हें वे काम करने भी चाहिएं पर अपनी इच्छा से नहीं, मन की इच्छा से। घोड़ों को रथ को खींचते हुए सड़क पर चलना है पर किस ओर को चलना है और किस गति से चलना है, इसका निर्णय घोड़े नहीं करेंगे, सारथि करेगा। अगर घोड़ मनमाने तौर पर रथ को ले जाने लगें तो दुर्घटना होकर रहेगी। इसलिए घोड़े सारथि के नियंत्रण में होने चाहिएं। घोड़े सारथि के काबू में रहें और वह उन्हें जिस तरह और जिस ओर को चलाना चाहे, चला सके। इसके लिए आवश्यक है कि घोड़ों के मुंह में लगाम हो।

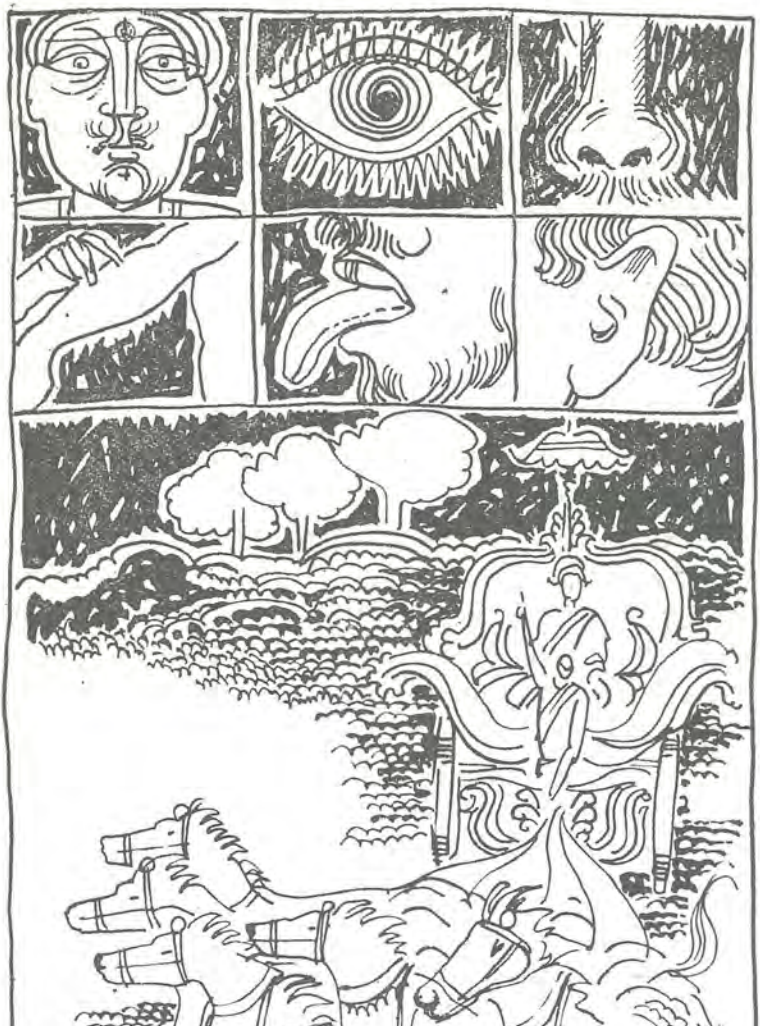

पांच घोड़ों वाला रथ। सारथी लगाम थामे है; पीछे स्वामी बैठा है।

तो इन्द्रिय रूपी घोड़ों के मुंह में मन रूपी लगाम होनी चाहिए और उस लगाम को बुद्धि रूपी सारथि दृढ़ता से पकड़े रहे। सारथि में दो गुण होने चाहिएं। पहला तो यह कि वह रथ हांकने की विद्या का जानकार हो और भले-बुरे मार्गों से परिचित हो। उसे पता हो कि यह मार्ग साफ है यह ऊबड़-खाबड़। यह मार्ग सीधा है और यह चक्करदार। यह मार्ग लक्ष्य की ओर ले जाने वाला है और यह लक्ष्य से दूर।

दूसरा गुण सारथि में यह होना चाहिए कि वह अपने स्वामी का आज्ञाकारी हो। रथ को उस ओर ले चले, जहां स्वामी को पहुंचना है।

अगर सारथि लगाम थामना न जानता हो तो वह घोड़ों पर काबू नहीं रख सकेगा। और यदि लगाम थामना तो जानता हो पर भले-बुरे मार्ग का जानकार न हो तो भी बात नहीं बनेगी। और फिर उसे अपने स्वामी के गंतव्य, लक्ष्य या उद्देश्य का पता तो होना ही चाहिए। यदि गंतव्य स्थान का पता नहीं होगा तो व्यर्थ इधर-उधर भटकता रहेगा।

दम में मनोनिग्रह के महत्त्व को हमने समझा था। अब इन्द्रिय-निग्रह को और अच्छी तरह समझ लें।

ऊपर के रूपक को कुछ और विस्तारपूर्वक समझ लें। घोड़े मनमानी करने लगें तो क्या होगा। दुर्घटना होकर रहेगी। रथ टूट-फूट जाएगा। घोड़े भी घायल होंगे। सारथि के भी चोट आएगी और रथ के स्वामी के प्राणों पर भी संकट आएगा। जहां पहुंचने के लिए निकले थे, वहां पहुंचने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

हमारी आंखें हर समय सुन्दर वस्तुओं को देखना चाहती हैं। कान मधुर शब्द सुनना चाहते हैं। नाक बढ़िया सुगंध को सूंघना चाहती है। जीभ तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन का रस चाहती है। त्वचा अच्छी-अच्छी चीजों का स्पर्श-सुख चाहती है। ये पांचों इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में मस्त और व्यस्त हैं।

तरह-तरह के दृश्य और नये-नये गाने सुनने के शौकीन कुछ छात्र सिनेमा देखने को लालायित रहते हैं। वे अपने विद्यालय के समय में और उसके बाद भी सिनेमाघरों के भीतर-बाहर दिखाई देंगे। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न हो या हो वे सिनेमा देखने के लिए झूठ-मूठ

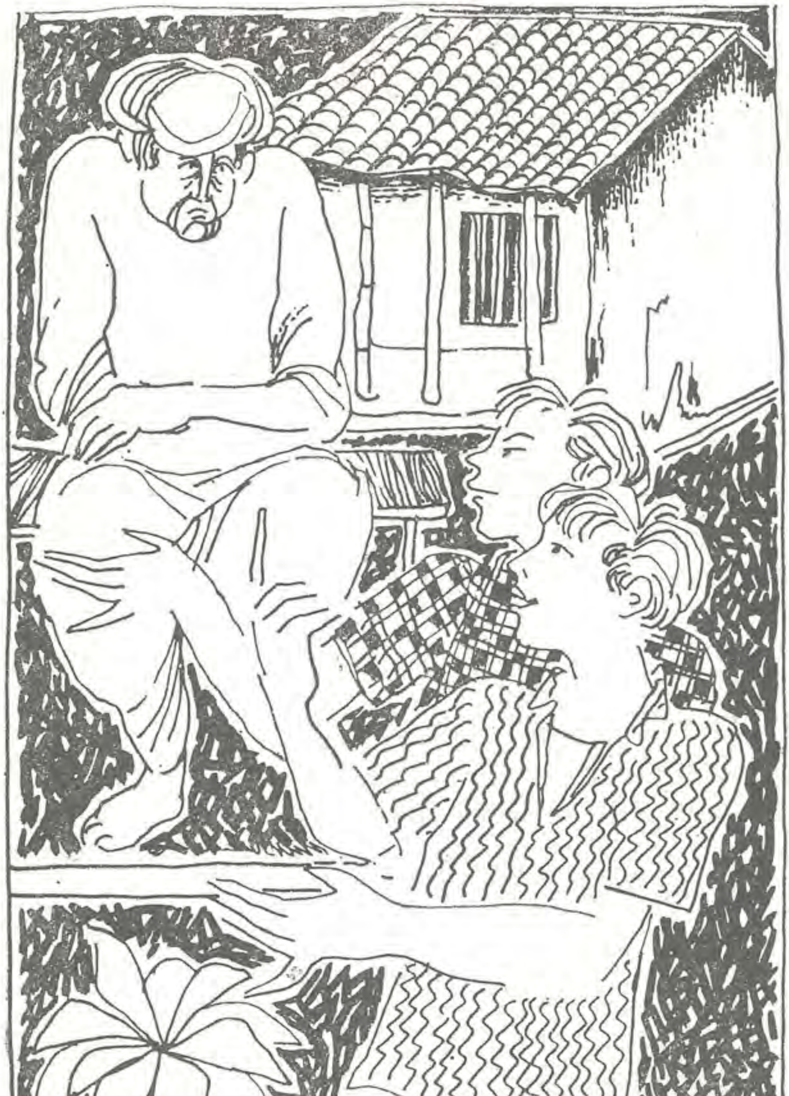

गरीब पिता रुपये न दे सकें तो उनके लड़के
आसमान सिर पर उठा लेते हैं।

कई बहाने बनाकर मां-बाप से रुपये ऐंठते है। न दे सकें तो आसमान सिर पर उठा लेते हैं। उसपर भी अगर पैसे नहीं मिलते तो ये घर से रुपये चुराने लगेंगे। सिनेमा का टिकट खरीदने वालों की लम्बी लाइनों में खड़े रहकर टिकट खरीदकर ब्लैक में बेचेंगे और जिस दिन पुलिस देख लेगी, उस दिन थाने में बंद होंगे। ये जुआ खेलकर भी अपने शौक को पूरा करने के लिए पैसा जुटाने का प्रयत्न करते हैं। जुए में सभी तो जीतते नहीं। जो हार जाते हैं, वे दूसरे अनुचित उपायों से पैसा जुटाने का प्रयत्न करते हैं। अंत में ये सब एक-न-एक दिन चोरी करने, जुआ खेलने या अन्य किसी अपराध में पकड़ लिए जाते हैं और दण्ड पाते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विद्यालय से बार-बार अनुपस्थित रहने के कारण या तो इनका नाम कट जाता है या ये फेल हो जाते हैं। साल-भर पढ़ाई न करने के कारण ये परीक्षा में नकल का सहारा लेने का प्रयत्न करते हैं और प्रायः पकड़ लिए जाते हैं। इस तरह छोटे-छोटे अपराधों से शुरू करके ये समय पाकर बड़े अपराध करने लगते हैं और समाज के शत्रु बन जाते हैं।

जिनको जीभ के स्वाद का चस्का लग जाता है वे भी अपने इस कुटेव के कारण अपना स्वास्थ्य चौपट कर देते हैं। इन लोगों को 'चटोरा' कहा जाता है। खट्टे-मीठे और चटपटे भोजनों के लिए इनके मुंह से हर समय लार टपकती रहती है। ये भूख के लिए नहीं, स्वाद के लिए खाते हैं। तीखे मिर्च-मसाले वाले भोजन इन्हें प्रिय लगते हैं।

गीता के १८वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने सभी तरह के भोजनों को तीन श्रेणियों में बांटा है।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला एवं रसयुक्त, घी-दूध वाला भोजन सबसे अच्छा होता है।

दूसरी श्रेणी का भोजन वह होता है जिसमें कड़वे, खट्टे, नमकीन, तीखे, रूखे और जलन पैदा करने वाले पदार्थ होते हैं। यह भोजन दुःख, चिंता और रोगों को बढ़ाने वाला होता है।

तीसरी कोटि के भोजन में अधपकी, बासी रस रहित और दुर्गन्ध-युक्त चीज़ें सम्मिलित होती हैं। यह भोजन अपवित्र होता है। यह शरीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाला होता है। इससे बुद्धि मंद होती है, उमर घटती है और रोग बढ़ते हैं। यह

आसानी से पचता नहीं। नींद, आलस्य और प्रमाद भी इस भोजन से बढ़ता है।

भोजन की इस सूची को देखकर हमें अपने भोजन में सुधार करना चाहिए। इसमें एक बात और भी ध्यान देने की है। सबसे अच्छा भोजन भी बहुत अधिक नहीं खाना चाहिए। थोड़ी-सी भूख बाकी रह जाए, इतना भोजन करना चाहिए। फिर आप देखेंगे कि वह ठीक से पच भी जाएगा और स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा।

भोजन के समय का भी ध्यान रखना चाहिए। आपकी जैसी परिस्थिति है, उसके अनुसार जो भी समय आपको भोजन के अनुकूल पड़ता हो, उसका निश्चय करके प्रतिदिन उसी समय भोजन करने से अधिक लाभ होता है। कभी कार्यवश समय में परिवर्तन करना भी पड़ सकता है। किंतु मुख्य बात यह है कि साधारणतया आप भोजन निश्चित समय पर ही करें।

भोजन के संबंध में एक छोटी-सी सूक्ति है जो सदा ध्यान में रखने योग्य है।

कहा है : हितभुक्, मितभुक् और ऋतभुक् सदा नीरोग रहता है।

हितभुक् का अभिप्राय है कि जो भोजन भोजन करने वाले के स्वास्थ्य के अनुकूल हो। आप जानते हैं कि कई चीजें सामान्य रूप से स्वास्थ्य के लिए अच्छी होती हैं किंतु कोई विशेष व्यक्ति जब उन्हें खाता है तो उसे हानि होती है। इसलिए अपने स्वभाव का भी भोजन में ध्यान रखना चाहिए।

मितभुक् का अर्थ है कि भोजन नपा-तुला हो। परिमित भोजन वह भोजन है जो उचित मात्रा में हो। उसे खाने के बाद पेट फूलता नहीं और काम करने में कठिनाई भी नहीं होती। शरीर अलसाता नहीं।

ऋतभुक् का अर्थ है कि भोजन ऋतु के अनुकूल होना चाहिए। प्राय: प्रत्येक ऋतु के कुछ शाक-सब्जियां और फल होते हैं। जिस ऋतु में जो चीज़ें पैदा होती हैं, वे प्राय: उस ऋतु में स्वास्थ्य के अनुकूल होती हैं।

अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जो एक ऋतु में खाने पर तो स्वास्थ्य को लाभ पहुंचाती हैं और दूसरी ऋतु में हानि। इसी प्रकार कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो दिन के समय खाने पर स्वास्थ्य और बल में वृद्धि करती

हैं और रात को खाने पर हानि।

इसी तरह स्पर्शेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के बारे में भी समझें।

ज्ञानेन्द्रियां यदि वश में रहें तो कर्मेन्द्रियां अपने आप वश में रहने लगती हैं।

पर हमारी जीभ जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का काम करती है, उसके संबंध में ज्यादा सावधान रहने की आवश्यकता है।

हम अपने शरीर की रचना पर ध्यान दें तो पता लगेगा कि हमारे दो आंखें, दो कान, दो नथुने हैं। त्वचा तो सारे शरीर में ही फैली हुई है किंतु जीभ एक ही है और उसे काम दो करने पड़ते हैं। वह ज्ञानेन्द्रिय के रूप में स्वाद बताती है और कर्मेन्द्रिय के रूप में बोलने का काम भी करती है।

ऐसा क्यों ? इसका अभिप्राय यह मालूम देता है कि जीभ से बाकी इन्द्रियों की अपेक्षा आधा काम लें और इस आधे काम को भी दो भागों में बांट लें। एक भाग ज्ञानेन्द्रिय के काम का और दूसरा कर्मेन्द्रिय के काम का। अभिप्राय यह कि हम जितना देखें, जितना सुनें, उससे बहुत कम बोलें।

अधिक बोलने से होने वाली हानियों को गिनवाना कठिन है। इसलिए वाणी पर दोनों तरह का संयम रखने की आवश्यकता है। स्वाद के बारे में भी और बोलने के बारे में भी।

दूसरों के बारे में बुरी बातें गढ़ने और दोहराने, जो लोग अनुपस्थित हों उनकी निंदा करने, त्रुटियां गिनवाने से बचना चाहिए। इसे 'पर अपवाद' कहते हैं।

पर अपवाद

पर अपवाद करने वाले और उसको सुनकर मजा लेने वालों की संसार में कमी नहीं है। कैसी विचित्र बात है कि यदि हम किसीकी बड़ाई की बातें सुनते हैं, तो उस पर विश्वास नहीं करते। मन में सोचते हैं कि 'यह आदमी उस आदमी की प्रशंसा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कर रहा है। वह आदमी वास्तव में इस प्रशंसा के योग्य नहीं है और उसे मैं अच्छी तरह जानता हूं, उसमें कोई विशेष बात नहीं है।'

और यदि कोई हमारे सामने किसीकी निंदा करता है तो हम झट उसे सच मान लेते हैं।

हमें न केवल 'पर अपवाद' की बातें करने से बचना चाहिए अपितु सुनने से भी बचना चाहिए। यदि आप सुनेंगे तो कभी अवसर आने पर दूसरों से भी कह बैठेंगे कि श्री 'क' के संबंध में श्री 'ख' ऐसा-ऐसा कह रहे थे। और मेरा भी उस आदमी के बारे में ऐसा ही विचार है। वास्तव में वह है भी ऐसा ही—इत्यादि।

'पर अपवाद' की बातों में नासमझी, कपट और झूठ का बहुत अंश रहता है। जो लोग अच्छा जीवन बिताना चाहते हों, उन्हें इन बुराइयों से बचना चाहिए।

'पर निंदा' के संबंध में, बात करने से पहले सोच लें कि क्या आप इन बातों को उस आदमी के सामने भी कह सकते हैं। यदि नहीं कह सकते तो पीठ पीछे भी मत कहिए।

'पर अपवाद' के बाद 'गप्प और व्यर्थ वार्तालाप' से भी बचें। समय काटने के लिए बेसिर-पैर की बातें करने को 'गप्प' कहते हैं। अनाप-शनाप जो मुंह में आया कह दिया, बे-लगाम ज़बान वाले ये लोग हर समय कुछ-न-कुछ बोलते रहेंगे। ऐसे बकवादी लोगों से सदा बचना चाहिए।

इसी तरह जो लोग अपनी ज़बान से छुरी-तलवार का काम लेते हैं, उनसे भी भगवान् बचाए। तलवार की धार जैसे तेज़ और दुःखदाई शब्दों से ये लोग हर समय मार-काट मचाते रहते हैं। इनके कड़वे और विष में सने शब्दों से सुनने वालों का हृदय पीड़ा से कराह उठता है। पर इन्हें दूसरों को दुःख देने में ही सुख मिलता है। ऐसे कठोर वचन बोलने वालों से लोग दूर ही रहना पसंद करते हैं। इनका कोई मित्र नहीं होता। हो सकता भी नहीं।

जो भी व्यक्ति चाहता हो कि सब लोग उसके शत्रु बन जाएं और उससे दूर रहें, उसको चाहिए कि वह सदा कड़वी ज़बान बोला करे। किंतु जो व्यक्ति चाहे कि लोग उसके मित्र बनें, उसकी बात मानें और उसके वश में रहें, उसे नीचे लिखे अनुसार आचरण करना चाहिए :

'वशीकरण इक मंत्र है, तज दे वचन कठोर'

इसी तरह भद्दे मज़ाक और गालियां, अश्लील किस्से-कहानियां और चुटकले, बड़े-बूढ़ों का मज़ाक उड़ाना, "मेरी बातें सुनकर लोग खूब हंसते हैं' और 'मैं बातें बनाने में बड़ा चतुर हूं' यह सोचकर बेपर

की उड़ाना जीवन में उन्नति करने वालों का लक्षण कदापि नहीं है।

बोल-चाल में नम्रता और गंभीरता का सदा ध्यान रखना चाहिए।

व्यर्थ की बहस के लिए तर्क-वितर्क करना, बाल की खाल निकालना, अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए दूसरे की बात को काटना बुरी आदत है और इससे दूसरों की अपेक्षा अपनी ही हानि अधिक होती है।

हमें बापू (महात्मा गांधी) के तीन बंदरों की बात को सदा स्मरण रखना चाहिए। महात्मा गांधी जी के पास एक खिलौना था। इसमें तीन बंदर बने हुए थे। एक बंदर ने मुंह पर दोनों हाथ रखे हुए थे, दूसरे ने दोनों हाथों से दोनों आंखें ढांप रखी थीं और तीसरे ने दोनों हाथों से दोनों कान बंद कर रखे थे। बापू इस खिलौने को सदा अपने पास रखते थे। इसका अभिप्राय यह था कि मुंह से बुरा मत बोलो, आंखों से बुरा मत देखो और कानों से बुरा मत सुनो।

अच्छे लोगों का कहना है कि हमें अपनी बड़ाई और दूसरों की निंदा सुनने से बचना चाहिए।

धी अर्थात् बुद्धि

मानव धर्म का सातवां लक्षण है श्रेष्ठ बुद्धि। अन्य बहुत-सी बातें पशुओं और मनुष्यों में एक जैसी हैं किंतु बुद्धिमान होना मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य जैसी बुद्धि दूसरे किसी प्राणी में नहीं है।

पिछले अध्याय में हमने रथ का एक रूपक दिया था। उसमें कहा है कि शरीर रथ है, आत्मा रथ का मालिक है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है और इन्द्रियां घोड़े हैं।

रथ घोड़ों के बिना नहीं चलता परंतु उसे ठीक मार्ग पर ले जाना, हाथ में लगाम थामे हुए सारथी का काम है। सारथी में चार गुण होने चाहिएं। पहला यह कि उसे मालिक का आज्ञाकारी होना चाहिए। दूसरा यह कि उसे मालूम हो कि मालिक को कहां जाना है। तीसरा यह कि उसे वहां पहुंचने का रास्ता पता हो। और चौथा यह कि उसे रथ हांकने का काम अच्छी तरह आता हो। इनमें से यदि किसी भी गुण की कमी हुई तो रथ अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकेगा। इन्द्रिय रूपी घोड़े मनमाने ढंग से दौड़ना चाहते हैं। परंतु यदि बुद्धि रूपी सारथी लगाम को कसकर रखे तो घोड़ों की मजाल नहीं कि वे भटक जाएं।

जब हमारा मन कहीं दूसरी ओर लगा हो तो चाहे कोई हमारे

सामने से निकल जाए या कोई कुछ बातें करता रहे, आंख-कान रहते भी हमें पता नहीं लगता कि सामने से कौन निकल गया था, क्या बातें हो रही थीं। ऐसे अवसर पर प्रायः कहा जाता है कि मेरा मन कहीं और था, इसलिए मैंने नहीं देखा या मैंने नहीं सुना।

प्रायः कक्षा में अध्यापक के पढ़ाए पाठ को मन लगाकर न सुनने वाले छात्रों को अध्यापक लोग ताड़ लेते हैं और जब उनसे पूछते हैं कि बताओ मैं क्या समझा रहा था तो ये छात्र बगलें झांकने लगते हैं। ये छात्र वहीं बैठे हुए थे किंतु ध्यान दूसरी ओर होने के कारण उन्हें कुछ मालूम नहीं कि अध्यापक क्या समझा रहे थे।

इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियां किसी विषय को तभी ग्रहण कर सकती हैं, जब मन भी साथ हो। मन कहीं और हुआ तो इन्द्रियां ठीक होने पर अपना काम भली भांति नहीं कर सकेंगी। घोड़ों की चाल चाहे धीमी करनी हो या तेज, उन्हें दाईं ओर मोड़ना हो या बाईं ओर, सारथी लगाम से ही यह सारे इशारे करता है। यह बुद्धिरूपी सारथी यदि नासमझ, किस समय क्या करना है और क्या नहीं करना है, इससे अनजान और घोड़ों को काबू में रखने में असमर्थ हो तो घोड़े मनमानी करने लगेंगे और रथ को मालिक और सारथी समेत किसी बुरे स्थान में ले जाकर पटक देंगे। इस दुर्घटना से उन्हें भी चोटें लगेंगी।

जिनकी बुद्धि शुद्ध-निर्मल होती है, वे ठीक निर्णय और निश्चय करते हैं। जैसे यदि ऐनक का नंबर ठीक हो और ठीक नंबर के सारे शीशे साफ भी हों, इन पर धूल-गर्द न जमी हो तो हमें सारी चीज़ें साफ दिखाई देंगी, पास की भी और दूर की भी। और यदि हम रंगीन शीशों वाली ऐनक पहनें तो जैसा शीशों का रंग होगा, चीज़ें भी उसी रंग की दिखाई देंगी। ठीक इसी तरह खोटी बुद्धि होने से खोटे काम करने के निर्णय और निश्चय होते हैं। शुद्ध बुद्धि होने से अच्छे कामों में प्रवृत्ति होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अच्छी बुद्धि के बारे में यों लिखा है : हे अर्जुन ! किसमें मन को लगाना और किससे मन को हटाना, कौन-सा काम करने योग्य है और कौन-सा नहीं करने योग्य, कहां भय है और कहां निर्भयता, क्या करने से बंधन में पड़ना पड़ेगा और क्या करने से बंधनों से छुटकारा मिल जाएगा, जो बुद्धि इन बातों को जानती है, वह सात्त्विक अर्थात् अच्छी बुद्धि है।

महाभारत में एक जगह दुर्योधन कहता है—"मैं जानता हूं कि धर्म क्या है, पर क्या करूं, मेरा मन उस ओर जाता ही नहीं, मैं अधर्म को भी जानता हूं पर मैं उसे छोड़ नहीं पाता हूं।" इस तरह खोटी बुद्धि के कारण ही होता है। क्या चोर नहीं जानता कि चोरी करना बुरा काम है, क्या शराबी नहीं जानता कि शराब पीना बहुत ही बुरा काम है और इससे उसका जीवन चौपट होता जा रहा है। घर नरक बन गया है। गरीबी बढ़ती जा रही है। स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है। परिवार की सुख-शांति नष्ट हो चुकी है। बच्चों का भविष्य अंधकारमय है। सब-कुछ जानता है, फिर भी शराब पीता है। इसका मतलब यही है कि उसकी बुद्धि की बात उसका मन नहीं मानता। इसको कहते हैं : मन-मानी। मन-मानी का मतलब है समझदारी का अभाव। जो आदमी समझदारी से काम लेता है, उसे कहते हैं इसने बुद्धिमानी का काम किया।

समाज में जिन्हें हम बुरे लोग कहते हैं, ये वही हैं, जो बुरे काम करते हैं। और जो लोग बुरे काम करते हैं, वे सदा भयभीत रहते हैं। समाज उनकी निंदा करता है। उनके संबंधी और मित्र भी उनसे घृणा करते हैं। वे सरकार से, पुलिस आदि से सदा भयभीत रहते हैं। आप जानते हैं कि पुलिस के भय से डाकुओं के गिरोह जंगलों में जाकर रहते हैं। जो लोग कानून तोड़ते हैं, वे हर घड़ी डरे-डरे, सहमे-सहमे रहते हैं। बिना टिकट यात्रा करने वालों को हर घड़ी यह भय लगा रहता है कि टिकट देखने वाला न आ जाए। जो लोग ठीक से सरकारी करों का भुगतान नहीं करते, उन्हें भय रहता है कि अगर कभी पकड़े गए तो दण्ड भुगतना पड़ेगा। जो लोग चीज़ों में मिलावट करते हैं, उन्हें भी सदा छापा पड़ने का भय रहता है।

इसलिए जो समझदार हैं, वे ऐसा कोई काम नहीं करते जिससे डरना पड़े। न बुरा काम करो, न किसीसे डरो। बच्चे माता-पिता को बहुत चाहते हैं। माता-पिता भी बच्चों को बहुत प्यार करते हैं। किंतु घर में जिस बच्चे ने कोई बुरा काम किया हो उसे माता-पिता से भी डर लगता है। वह जानता है कि जब माता-पिता को पता लगेगा कि मैंने यह अनुचित काम किया तभी मुझे दंड भुगतना पड़ेगा। जो अच्छा कार्य करते हैं, उन्हें पुरस्कार मिलता है।

जो बुरा काम करता है, वह उस काम को छिपाना चाहता है या

'मैंने यह नहीं किया' इस तरह झूठ बोलकर उस पर पर्दा डालता है। उसमें हिम्मत नहीं होती कि वह स्वीकार करे और जो अपनी भूल को स्वीकार कर लेता है, समझ लीजिए कि वह सुधर गया। एक भूल को छिपाने के लिए कितना तो झूठ बोलना पड़ता, वह उस झूठ से बच गया और भविष्य में वह वैसी भूल करेगा भी नहीं।

जिसको अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार मिलता है वह खिल उठता है, उत्साह से भर जाता है। वह अपने माता-पिता तथा मित्रों को बताता है कि उसे पुरस्कार मिला। वह पुरस्कार लेते समय फोटो भी खिंचवाता है।

अच्छी बुद्धि वाला जानता है कि यदि मैंने कानून के विरुद्ध कोई काम किया तो मुझे जेल में बंद कर दिया जाएगा। लोग अपने बुरे कामों के कारण ही तो बंधन में पड़ते हैं। जेलों में जितने अपराधी बंद हैं, वे अपने बुरे कामों के कारण ही तो बंद हैं। और कई बार ऐसा भी होता है कि कारणवश कोई अनुचित काम हो गया और दंड में जेल जाना पड़ा। इस भले आदमी को पछतावा होगा कि अगर मैं वैसा अनुचित काम न करता तो क्यों जेल में बंद होता। यह आदमी स्वभाव से अपराधी नहीं है। यह जेल में अपने सारे काम ठीक से करता है। क्या आपको मालूम है कि इस तरह अपने कामों से अपने अच्छे चाल-चलन का सबूत देने वाले कैदियों की सजा कम कर दी जाती है? और जो अपराधी जेल में भी गड़बड़ करते हैं, उन्हें बेड़ियां पहनाकर रखा जाता है। उनके बंधन और भी पक्के और कष्टकारक हो जाते हैं।

एक बड़ी अच्छी कहानी याद आ रही है। एक जेल में कैदियों से मिलने कोई बड़ा अधिकारी गया। उसने दंड भुगत रहे लोगों से पूछा कि आपको किसलिए कैद का दंड मिला। सभी ने बहाने बनाए। किसीने कहा कि पुलिस की गलती से। दूसरे ने कहा कि मेरे पड़ौसी से मेरी शत्रुता थी। उसने मेरे विरुद्ध झूठी गवाही दे दी। इसी तरह सभी ने अपने आपको निर्दोष बताने का प्रयत्न किया। किंतु एक कैदी ऐसा भी निकला जिसने सच्ची बात बता दी और कहा कि मुझसे भूल हो गई थी, उसीका दंड भुगत रहा हूं। उस बड़े अधिकारी पर उसके सच बोलने का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उसने व्यंग्य में कहा, "इस जेल में इतने सारे लोग बिना अपराध के बंद कर दिए गए हैं। बस, यही एक

अधिकारी — इन सारे निरपराधों के बीच इस एक अपराधी का रहना ठीक नहीं है। इसलिए मैं इसे छोड़ने की आज्ञा देता हूं।

अपराधी है, जो स्वीकार रहा है कि उसने अपराध किया है। मेरे विचार में इन सारे निरपराधों के बीच इस एक अपराधी का रहना ठीक नहीं है। इसलिए मैं इसको छोड़ने की आज्ञा देता हूं।

और वह सच बोलने वाला कैदी छोड़ दिया गया। इसलिए भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा कि अच्छी बुद्धि बंधवाती नहीं, छुड़ाती है।

इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का एक अभिप्राय यह भी है कि सद्बुद्धि के द्वारा व्यक्ति मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है और जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है।

जहां हमने अच्छी बुद्धि के कामों को समझा, वहां रजोगुणी और तमोगुणी बुद्धि के कामों को जान लेना भी उपयोगी होगा।

भगवान् ने गीता में कहा है—हे अर्जुन ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म तथा अधर्म, कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को भी ठीक से नहीं समझ पाता, वह बुद्धि राजसी है। राजसी बुद्धि बीच वाली है। तामसी नीच बुद्धि है और सात्त्विकी सद्बुद्धि। बीच में राजसी है। इस पर थोड़ा-थोड़ा दोनों ओर का प्रभाव है। जब यह बुद्धि गिरावट की ओर बढ़ेगी तो तामसी कहलाएगी। अच्छाई की ओर बढ़ेगी तो सात्त्विकी कहलाएगी।

अब तामसी को भी समझ लें। भगवान् ने कहा, उल्टी बुद्धि का नाम ही तामसी बुद्धि है। यह अधर्म को धर्म मानती है। इसी तरह सभी बातों को उल्टा समझती है। यह रस्सी को सांप और सांप को रस्सी समझ बैठती है। इसीलिए ऐसे लोगों को प्रायः कहा जाता है कि इसकी खोपड़ी उल्टी है।

तो यहां तीन प्रकार की बुद्धियों की बात हमने पढ़ी। जो व्यक्ति मुख्य रूप से सद्बुद्धि वाला है, हो सकता है कि किसी क्षण वह राजसी बुद्धि वाले जैसा काम कर बैठे। और इसी तरह राजसी बुद्धि वाला भी कभी कोई सात्त्विक बुद्धि का काम कर सकता है। तामसी बुद्धि वालों का तो भगवान् ही मालिक है।

अच्छी पुस्तकों को पढ़ने, अच्छे लोगों के बीच रहने, धार्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय, संत-महात्माओं के प्रवचन सुनने, सत्संग करने और उनकी सेवा करने से मन और बुद्धि दोनों निर्मल होते हैं। पर कठिनाई यह है कि तामसी बुद्धि वालों को शुरू में ये चीजें अच्छी ही नहीं

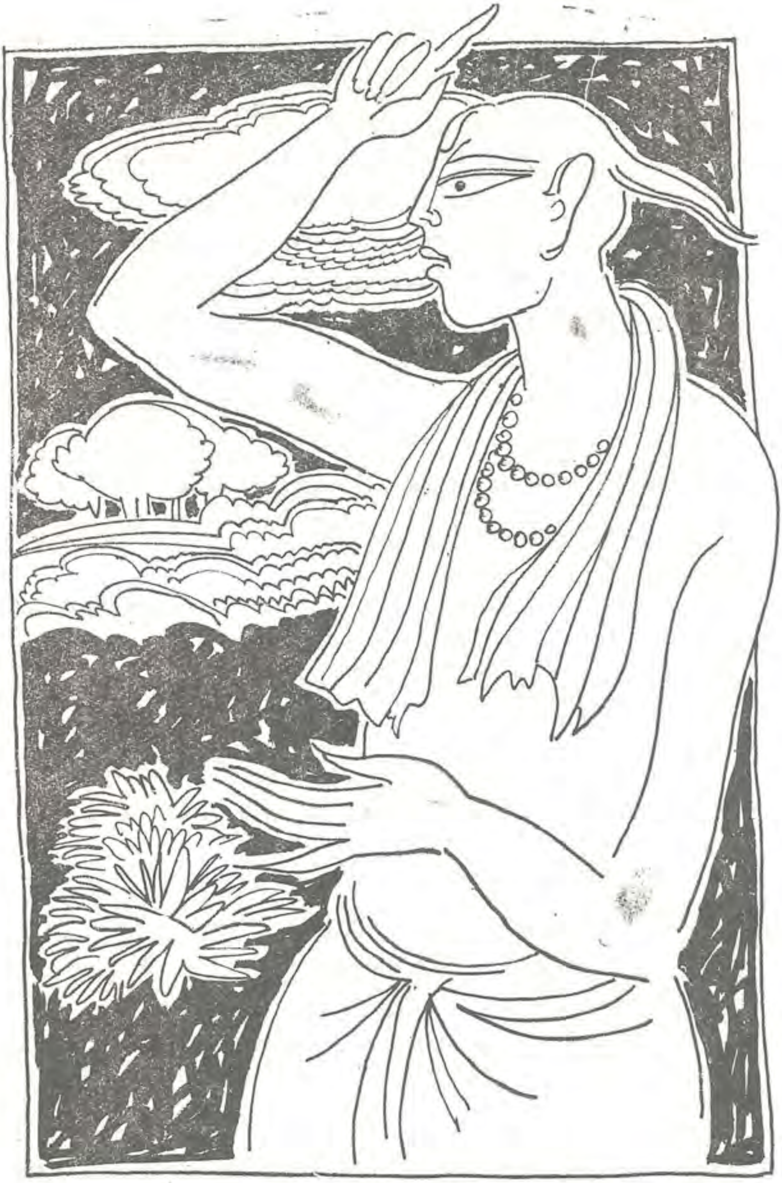

चाणक्य ने कहा था—चाहे मेरा सब-कुछ चला जाए पर मेरी बुद्धि ठीक रहे।

लगतीं। पित्त के रोगी को मिसरी भी कड़वी लगती है। और पित्त रोग की एक दवा भी मिसरी है। मीठी न लगने पर भी निरंतर मिसरी खाने से रोग ठीक हो जाता है और फिर मिसरी मीठी भी लगने लगती है। अच्छी पुस्तकों के पढ़ने, अच्छे लोगों का संग करने और अच्छे नियमों का पालन करने से भी यही होता है। संत पुरुषों का उपदेश है कि भगवान् के नाम का स्मरण करने, कीर्तन करने और भगवान् के नाम का जाप करने से भी मन की चंचलता दूर होती है, बुद्धि शुद्ध और स्थिर होती है। भीतर के अज्ञान का अंधेरा मिटकर, ज्ञान का शीतल प्रकाश फैल जाता है।

इस लेख के प्रारंभ में हमने कहा था कि मनुष्य की यह विशेषता है कि वह सबसे बुद्धिमान प्राणी है। मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान में जितनी उन्नति की है, सब बुद्धि के बल-बूते पर की है।

इसलिए नीति का वचन है कि जिसके पास बुद्धि है, वही बलवान् है, निर्बुद्धि व्यक्ति बलवान् नहीं हो सकता।

साधारण व्यक्ति किसी पर बंदूक से गोली चलाए तो गोली निशाने पर लग भी सकती है और नहीं भी लग सकती है। किंतु बुद्धिमान् व्यक्ति अपने बुद्धिबल से सारे राष्ट्र तक को नष्ट कर सकता है।

इतिहास में हमें बुद्धि की शक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। चाणक्य ने अपने बुद्धिबल से नंदवंश को नष्ट कर दिया और उनकी गद्दी पर चंद्रगुप्त को बिठा दिया।

छत्रपति शिवाजी महाराज ने न केवल औरंगजेब की चुनौती को स्वीकार किया बल्कि औरंगजेब को चुनौती दी थी।

महाभारत में हमने भगवान् कृष्ण के बुद्धि कौशल से कौरवों का विनाश होते पढ़ा है।

'मूर्ख मित्र की अपेक्षा बुद्धिमान् शत्रु भी अच्छा', यह सूक्ति बुद्धि की महिमा का प्रमाण है।

चाणक्य ने कहा था—चाहे मेरा सब-कुछ चला जाए पर मेरी बुद्धि मेरे पास रहे तो मैं सभी कुछ दोबारा प्राप्त कर लूंगा। और यही मानव-जीवन की सफलता का मंत्र है।

विद्या

मानव धर्म का आठवां लक्षण विद्या है। विद्या से क्या समझें ! पुस्तक विद्या ? क्या पढ़ना-लिखना इसका अर्थ करें ? मोटे तौर पर तो विद्या का यही अर्थ लिया जाता है। कई बार विद्या-बुद्धि शब्दों का इकट्ठा प्रयोग भी होता है। किंतु हम बहुत-से पढ़े-लिखे लोगों को देखते हैं कि उनका जीवन धर्ममय नहीं होता। कई बार तो धर्म से बिल्कुल उल्टा भी होता है। फिर इस विद्या को धर्म का लक्षण कैसे मानें। इस शब्द का मानव-धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) के रचयिता मनु महाराज को क्या अर्थ अथवा अभिप्राय स्वीकार होगा।

एक दूसरी दृष्टि से भी लगता है कि यहां विद्या का अर्थ पुस्तकी-विद्या नहीं हो सकता। वह इसलिए कि क्या जो पढ़ना-लिखना नहीं जानते, वे धार्मिक नहीं हो सकते ? इतिहास में झांककर देखें तो पता लगता है कि हमारे कितने ही संत-महात्मा पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे। फिर भी वे धर्मावतार माने जाते थे। वे धर्मात्माओं के शिरोमणि थे और धर्म की गूढ़-गंभीर बातों को समझते-बूझते थे। उनका जीवन धर्ममय था। उनके वचन धर्ममय थे, अमृतमय थे। उनके उपदेशों पर आचरण करके लोग जीवन में सुख और शांति प्राप्त करते

थे। जो कुछ धर्म शास्त्रों में लिखा था, वह सब उनके कार्य-व्यवहार से प्रकट होता था।

उपनिषदों के ऋषि ने एक जगह लिखा है : विद्या वह जो मुक्ति का कारण हो। श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् ने कहा है : मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूं। भगवान् कृष्ण तो मूर्तिमान धर्म ही हैं। और इसलिए धर्म का लक्षण जो विद्या है, अध्यात्म विद्या ही है। अब प्रश्न उठता है कि मुक्ति का कारण और अध्यात्म विद्या क्या है ? यह वह विद्या है जो आत्मज्ञान कराती है और जन्म-मरण के चक्कर से छुड़ाती है। संक्षेप में कहें तो इसका सार है—"अपने को पहचानो।" किसीने कहा है : मनुष्य "मैं हूं" ऐसा मानकर क्रिया करता है, किंतु इसे जानकर क्रिया नहीं करता है कि "मैं कौन हूं ?"

"मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं और किसलिए आया हूं ?" इन महाप्रश्नों का उत्तर जो विद्या देती है, वही अध्यात्म विद्या है, उसी विद्या के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह अध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा दिलाकर घट-घट में, कण-कण में 'राम' के दर्शन करा देती है। इस विद्या का जानकार निर्दोष, निष्काम और राग-द्वेष से रहित हो जाता है।

यह विद्या सीखें किससे ? उपनिषद् का कहना है कि यह विद्या, इसके जानकार गुरु से ही सीखी जा सकती है। धर्म-ग्रंथ भी इसे सीखने में आपकी सहायता कर सकते हैं, पर इसका यथार्थ अनुभवात्मक ज्ञान तो संत-महात्माओं, ज्ञानी महापुरुषों से ही मिल सकता है।

जैसे एक प्रज्वलित दीप से दूसरा दीप प्रज्वलित होता है, वैसे ही आत्मज्ञानी महापुरुष से यह ज्ञान मिल सकता है।

माटी का दीपक है, उसमें तेल भी है, बाती भी है पर इस बाती को जब तक दूसरी जगी हुई बाती से न छुआएंगे, यह दीपक प्रकाश नहीं देगा।

इस ब्रह्म विद्या या अध्यात्म विद्या के जानकार संत-महात्मा का सत्संग मिलने पर, उनकी सेवा करने पर या उनसे नम्रतापूर्वक इस विद्या को जानने की इच्छा प्रकट करने पर, वे योग्य अथवा अधिकारी व्यक्ति को इसका उपदेश देते हैं।

एक छोटी-सी कहानी हमारी बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देगी :

एक पंडित जी अपने यजमानों के पास आ रहे थे। बीच में नदी

जैसे एक प्रज्वलित दीप से दूसरा दीप प्रज्वलित होता है वैसे ही आत्मज्ञानी महापुरुष से यह ज्ञान मिल सकता है।

पड़ती थी। वे नाव में बैठकर नदी पार करते समय मल्लाह से बातें करने लगे। बातों-बातों में मल्लाह ने कहा, "मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूं।"

विद्या के अभिमानी पंडितजी बोले, "तब तो तुम्हारा आधा जीवन बेकार गया।"

इतने में उनकी नाव भंवर में फंस गई। मल्लाह ने पंडितजी से पूछा, "पंडितजी, तैरना जानते हो या नहीं ?"

पंडितजी घबराकर बोले, "नहीं।"

मल्लाह तो तैरना जानता था। वह नाव से यह कहता हुआ कूद पड़ा कि पंडितजी, आपका तो सारा जीवन ही बेकार गया।

संतों ने इस संसार को सागर कहा है। इस संसार-सागर से जो पार उतर जाएं, उनकी विद्या ही सच्ची विद्या है। वही विद्या धर्म का लक्षण है। बार-बार जन्म और मरण का चक्कर ही तो संसार-सागर है। और इससे छुटकारा पा जाना ही मुक्ति है।

सत्य

'सत्य' मानव-धर्म का नौवां लक्षण है। संसार-भर में अनेक धर्म-संप्रदाय और मत-मतांतर हैं, उनमें अनेक बातों में मतभेद भी हैं, पर 'सत्य' के बारे में कहीं कोई मतभेद नहीं है।

धर्म-ग्रंथ 'सत्य' की महिमा से भरे पड़े हैं। सत्य के संबंध में कही गई सारी बातों को इकट्ठा किया जाए तो विशाल ग्रंथ बन जाए।

तो क्या सत्य कोई ऐसी दुर्बोध वस्तु है जिसके लिए शास्त्रकारों को इतनी माथा-पच्ची करनी पड़ी ? नहीं, यह बात नहीं है। 'सत्य' बहुत ही सरल और सुगम है। सत्य की परिभाषा यों की जा सकती है : आपने जैसा देखा, जैसा सुना, जैसा अनुभव किया, उसको वैसे का वैसा कहना 'सत्य' है। बताइए, कितना सरल काम है। फिर भी होता क्यों नहीं ? आपसे कहा जाए कि एक सरल, सीधी रेखा खींचिए तो ऐसी रेखा खींचना कठिन है। कारण, आपका हाथ तनिक भी हिला तो रेखा सीधी नहीं रहेगी। क्योंकि हमारी किसीके साथ मित्रता है, इसलिए इस मित्र को लाभ पहुंचाने के लिए हम झूठ बोलने को तैयार हो जाते हैं। किसीसे हमारी शत्रुता है, इसलिए उसे हानि पहुंचाने के लिए हम झूठ बोलने को तैयार हो जाते हैं। कई बार लोभ और लाभ

के कारण भी हम झूठ बोलते हैं। ईर्ष्या और मोह भी झूठ बोलने के लिए प्रेरित करते हैं। इन सबके कारण जो सरल था, कठिन हो जाता है।

न्यायालयों में लोग गवाही देने जाते हैं। सत्यवादी सच बोलते हैं। कुछ दूसरे झूठी गवाही देने वाले वकील के तर्क करने पर उखड़ जाते हैं और उनके झूठ की पोल खुल जाती है।

आपने एक लोकोक्ति सुनी होगी—"झूठ के पैर नहीं होते।" इसका अभिप्राय यह है कि झूठ अपने पैरों पर नहीं चलता, अपनी शक्ति से नहीं चल सकता। तभी तो जो कोई भी झूठ बोल रहा होता है, वह कभी भी इस बात को स्वीकार नहीं करता कि वह झूठ बोल रहा है। वह हमेशा यही कहेगा कि मैं सच बोल रहा हूं। झूठ में इतनी भी हिम्मत नहीं कि वह अपना नाम बता सके। वह हमेशा सत्य का मुखौटा लगाकर दूसरों के सामने जाता है। यदि वह सत्य का मुखौटा लगाए बिना किसीके सामने जाए तो कोई उसे अपने पास भी खड़ा न होने दे। इसीलिए तो कहा जाता है कि झूठ के पांव नहीं होते।

इन्द्रियों और मन से जैसा देखा, सुना, सूंघा, स्पर्श किया, चक्खा और समझा, ठीक वैसा ही कहना सत्य है। यह 'सत्य' की परिभाषा है। यद्यपि देखे-सुने, सूंघे, चखे और स्पर्श किए का ज्यों-का-त्यों वर्णन कर सकना सब समय संभव नहीं है तो भी बिना छल-कपट के, शब्दों और भाषा का इस तरह प्रयोग करते हुए कि सुनने वाला अर्थ का अनर्थ या उल्टा अर्थ न समझ बैठे, सत्य है।

महाभारत का वह प्रसंग जिसमें सत्यवादी महाराज युधिष्ठिर ने कहा था, 'अश्वत्थामा हतः' (अश्वत्थामा मारा गया) छल युक्त सत्य था, इसलिए सत्य नहीं था। अश्वत्थामा आचार्य द्रोण के पुत्र का नाम था और एक हाथी का भी। हाथी मारा गया था, द्रोणाचार्य का पुत्र नहीं। और फिर यह बात द्रोणाचार्य को सुनाने के लिए कही गई थी ताकि वे समझें कि उनका पुत्र मारा गया है और युद्ध करना छोड़ दें। इस काम के लिए जान-बूझकर धर्मराज युधिष्ठिर को चुना गया था ताकि द्रोणाचार्य उस बात पर तनिक भी अविश्वास न करें। और फिर युधिष्ठिर झूठे नहीं बनना चाहते थे। आधी बात कहकर अपने को सच्चा प्रमाणित करने के लिए ज्योंही उन्होंने कहना चाहा कि 'मनुष्य नहीं, हाथी' त्योंही इस नाटक के सूत्रधार भगवान् कृष्ण ने शंख बजा

दिया ताकि यह बात द्रोणाचार्य को सुनाई ही न दे।

और यही कारण है कि धर्मराज युधिष्ठिर को भी नरक में जाना पड़ा था। यह दूसरी बात है कि वे नरक में ज्यादा देर नहीं रहे।

व्यासजी की सत्य की परिभाषा इस प्रकार है :

"मन सहित वाणी के यथार्थ कथन का नाम सत्य है अर्थात् जैसा देखा, समझा और सुना है, दूसरे को कहते समय मन और वाणी का ठीक वैसा ही प्रयोग करना चाहिए। देख, सुन, समझ कर जो बात अपनी समझ में जैसी आई, ठीक वैसी ही सुनने वाले को भी समझ में आए, ऐसे कथन का नाम सत्य है।"

भाषा में ठीक शब्द बोलने पर भी यदि बोलने के ढंग से या असावधानी के कारण सुनने वाला भ्रम में पड़ जाए या ठगा जाए तो वह 'कथन' सत्य नहीं माना जाएगा। इसलिए भाषा और भाव दोनों में सत्य की रक्षा की जानी चाहिए।

स्वार्थी और झूठे लोगों ने अपने झूठ पर पर्दा डालने के लिए समाज में कुछ गलत मान्यताएं चालू कर दी हैं। व्यापारियों में यह आम मान्यता है कि व्यापार झूठ के बिना नहीं चलता। साथ ही उनका यह भी कहना है कि व्यापार में झूठ बोलना अधर्म नहीं है। हम ऐसे लोगों को झूठ का व्यापारी कहेंगे। इन्हीं लोगों की तरह कुछ लोग न्यायालयों में झूठ बोलना अनुचित नहीं मानते। ये सब झूठ के व्यापारी हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए। धर्म-ग्रंथों में किसी भी परिस्थिति में झूठ बोलने की स्वीकृति नहीं दी गई है।

यों एकाध जगह ऐसा भी कथन है कि जहां सत्य बोलने से धर्म का नाश और अधर्म की वृद्धि होती हो वहां सत्य न बोलकर असत्य बोल देना चाहिए। उदाहरण के रूप में—एक गाय कसाई से छूटकर भाग गई है। कसाई उसे खोजता-खोजता किसीसे पूछता है कि आपने यहां से जाती गाय तो नहीं देखी ? अब जिसने गाय जाती देखी है, वह सत्य कहता है तो कसाई गाय को खोजकर उसे मार डालेगा। यदि वह कहता है कि इधर से कोई गाय नहीं गई तो गाय बच सकती है। इसी तरह यदि हत्यारे किसी छिपे व्यक्ति को खोज रहे हों तो उन्हें उस छिपे व्यक्ति का पता न बताना ही ठीक है।

यदि बोलने वाला झूठ बोलना न चाहे और सत्य बोलने से किसी निर्दोष व्यक्ति पर संकट आता हो तो मौन भी रहा जा सकता है।

सत्य बोलने पर किसी निर्दोष पर संकट आता है तो मौन भी रहा जा सकता है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऊपर से धर्म दिखने वाले किसी कार्य से यदि अधर्म बढ़ता हो तो वह धर्म नहीं है।

लंका में मेघनाद यज्ञ कर रहा है और भगवान् राम विष्णु का अवतार होने से यज्ञपति हैं। उन्हींसे यज्ञ का प्रारंभ है और वे ही यज्ञ की रक्षा करने वाले हैं। किंतु यह यज्ञ आसुरी शक्ति को बढ़ाने वाला होने के कारण राम पक्ष द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। भगवान् शंकर ने भी दक्ष-यज्ञ का विध्वंस किया था। यह यज्ञ भी शिव विहीन होने के कारण, सच्चे अर्थों में यज्ञ नहीं था। जिस यज्ञ में शिव नहीं, जिस यज्ञ के द्वारा राक्षसों की शक्ति बढ़े और उनके अत्याचार बढ़ें, ऐसे यज्ञ को नष्ट करना ही उचित था। पर ध्यान रहे जिन (भगवान् राम और शंकर) ने इन यज्ञों का विध्वंस किया वे व्यक्तिगत राग-द्वेष की सीमा से ऊपर थे।

महाभारत में हम देखते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर, रथ के पहिये से भीष्म पितामह पर आक्रमण करने की तैयारी की। शिखंडी की आड़ में बैठे अर्जुन से भीष्म पितामह पर बाण चलवाए; भीम से, गदायुद्ध के नियम के विरुद्ध, दुर्योधन पर गदा का वार करवाया और भी कितने ही ऐसे काम हुए। पर श्रीकृष्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे धर्म की बारीकियों को जानने वाले थे। उन्होंने जो कुछ किया, उससे धर्म की वृद्धि और अधर्म की हानि हुई। यही उनके अवतार का कार्य था। सच्चा धर्म इस लोक में उन्नति-कारक और परलोक में मंगलकारक होता है।

कुछ लोग सत्य बोलने का दंभ पाले रहते हैं। उन्हें इस बात का अभिमान होता है कि वे सच बोलते हैं, फिर चाहे किसीको अच्छा लगे या बुरा, इसकी परवाह नहीं करते। और भाई, सच तो कड़वा ही होता है। हमारी बात किसीको कड़वी लगे, तो लगती रहे। ये लोग सत्य का प्रयोग तलवार के रूप में करते हैं। और फिर अपने सत्यवादी होने का ढिंढोरा भी पीटते हैं। ये 'सत्य' के द्वारा दूसरों को चोट पहुंचाते हैं। इनका उद्देश्य सत्य बोलना नहीं होता, सत्य की आड़ में दूसरों पर प्रहार करना होता है। इस तरह का सत्य बोलने वालों की बात कोई नहीं सुनना चाहता। जब इन लोगों की दूसरे उपेक्षा करते हैं तो ये सत्य के कटु होने की बात करते हैं।

यद्यपि यह सच है कि कई बार सच्ची बात कड़वी भी होती है।

और हितकर होने पर भी इसलिए अस्वीकार की जाती है जैसे रोगी कड़वी दवाई को खाना नहीं चाहता। तभी तो आजकल दवाइयां कैप-सूल में भरकर दी जाती हैं ताकि कड़वे स्वाद के कारण कोई खाने से इन्कार न करे। जब नीतिकारों ने यह कहा था कि 'अप्रिय लगने वाला सच न बोले' तो उनका यही अभिप्राय था कि वह सुनने वालों को स्वीकार्य होना चाहिए। पूरा नीतिवाक्य इस प्रकार है: सच बोले और प्रिय बोले। अप्रिय लगने वाला सच न बोले। प्रिय लगने वाला झूठ न बोले। यही सनातन धर्म है।

एक दूसरी जगह यह भी कहा है कि अप्रिय लगने वाले सत्य को बोलनेवाला और अप्रिय सत्य को सुनने वाला दोनों का मिलना कठिन है।

"सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो", यह धर्म-ग्रंथों का उद्घोष है।

महाभारत में लिखा है "वह सभा, सभा नहीं कही जा सकती, जिसमें वृद्ध न हों; जो धर्म की बात नहीं कहते, वे वृद्ध होकर भी वृद्ध नहीं। जिसमें सत्य नहीं होता वह धर्म, धर्म नहीं होता और जिसमें छल हो वह सत्य, सत्य नहीं होता।"

हमारे राष्ट्र का आदर्श वाक्य है:

"सत्यमेव जयते।" (सत्य की ही जीत होती है)

अन्ततोगत्वा सत्य की जीत होना सुनिश्चित है।

अभिमान से, लोभ से, क्रोध से, भय से या अन्याय से जो झूठ बोलता है, उसे पाप लगता है। सत्य के बिना पूजा, जप-तप सभी कुछ व्यर्थ जाता है, जैसे ऊसर धरती में बोया हुआ बीज।

अब मैं आपका ध्यान प्रतिदिन के व्यवहार में होने वाले झूठ की ओर आकर्षित करना चाहता हूं।

यह संभव है कि जब किसीको कहा जाए कि आप मेरे पक्ष में न्यायालय में झूठी गवाही दें तो वह झूठ बोलने से इन्कार कर दे। किंतु यही व्यक्ति छोटी-छोटी बातों में झूठ बोलता मिल जाएगा। बीमारी का बहाना बनाकर पाठशाला या कार्यालय से छुट्टी लेना लोगों के लिए साधारण बात है। मुझे किसीने काम करने को कह दिया। मैं उस काम को अपनी लापरवाही के कारण समय पर नहीं कर सका। जब मुझसे वह काम मांगा गया तो मैं झूठे बहाने बनाने लगा। इस

तरह के झूठ से बचने के लिए बड़ी सावधानी और जागरूकता की आवश्यकता है।

झूठ से बचने का एक स्वर्ण नियम यह है कि हम कम बोलें। केवल काम की बात बोलें। निन्दा, चुगली, कठोर वचन बोलने से बचें। गीता में भगवान् कृष्ण ने वाणी के तप का स्वरूप इस प्रकार बताया है : ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जिसे सुनकर उद्वेग, क्षोभ न पैदा हो। वह सत्य होनी चाहिए, मीठी और हितकारी होनी चाहिए।

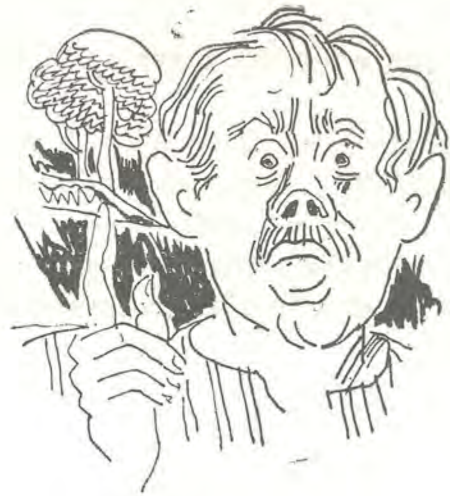

अक्रोध

(क्रोध न करना)

मानव धर्म का दसवां और अंतिम लक्षण है अक्रोध अर्थात् क्रोध न करना। जब कोई कार्य हमारे मन के विरुद्ध होता है, मनचाहा और मन-माना नहीं होता है तो हमें क्रोध आता है। क्रोध का यह स्वभाव है कि वह बुद्धि को ठीक ठिकाने नहीं रहने देता। क्रोध में अकल मारी जाती है। बुद्धि अपना संतुलन खो बैठती है। अपनी शक्ति खो बैठती है। तब क्रोध उसे अपने साथ बहा ले जाता है और मनमाने फैसले करवा लेता है। जब कोई व्यक्ति क्रोध की स्थिति में होता है तो उसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। क्या नहीं करना चाहिए, इसका ज्ञान भी नहीं रहता। तब क्रोधी व्यक्ति उल्टे-सुल्टे काम कर बैठता है। जो करना चाहिए था, उसे नहीं करता है और जो नहीं करना चाहिए था, उसे कर बैठता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में नरक के तीन दरवाजे बताए हैं। वे हैं काम, क्रोध और लोभ।

हम देखें कि जब किसी व्यक्ति को क्रोध आता है तो उसकी क्या दशा होती है। क्रोध में आंखें लाल हो जाती हैं। भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। होंठ फड़कने लगते हैं। दांत भिच जाते हैं। क्रोधी व्यक्ति ऊट पटांग

बकने लगता है। शरीर कांपने लगता है। सांस तेज़ हो जाती है। कान इस अर्थ में बहरे हो जाते हैं कि क्रोधी व्यक्ति किसीकी बात नहीं सुनता और न मानता है। क्रोध में व्यक्ति लड़ने-भिड़ने लगता है और अपने विरोधी को अधिक से अधिक हानि पहुंचाने का प्रयत्न करता है।

क्रोधी व्यक्ति, जिसके कारण उसे क्रोध आया, उसकी ओर देखता है अर्थात् उसके दोष देखता है, अपनी ओर नहीं देखता। उसे अपनी कोई भूल दिखाई नहीं देती। क्रोधी व्यक्ति यह भूल जाता है कि मैं इस समय जो कुछ कर रहा हूं, उसका परिणाम क्या होगा। यही क्रोध का अंधापन है। क्रोध की निंदा सभी इसलिए करते हैं कि यह बुद्धि का शत्रु है। क्रोध में अच्छे-बुरे का विवेक समाप्त हो जाता है।

तरह-तरह के अपराधों में, जेलों में दंड भुगत रहे लोगों से पूछ-ताछ करने पर अनेक ने कहा है कि क्रोध में उनसे यह अपराध हो गया। वे पछताते हैं कि क्रोध के उस क्षण में यदि उन्होंने अपने पर काबू रखा होता तो आज जेल में बंद न होते। इसलिए कहते हैं कि क्रोध के वेग को सह लेना चाहिए। कुछ लोगों ने क्रोध के वेग को शांत करने के लिए एक युक्ति निकाली है। उनका कहना है कि जब आपको क्रोध आए तो आप दस तक गिनिए। उसके बाद जो करना हो, वह कीजिए। बात यह है कि क्रोध का उफान यदि क्षण-भर को भी रोक लिया जाए तो फिर वह अपनी शक्ति खो बैठता है।

यदि क्रोध का वेग बहुत उग्र हुआ और जिस पर क्रोध आया है, उसकी शक्ति का ठीक अनुमान लगाए बिना कुछ कर गुज़रे तो उसका भयंकर परिणाम भुगतना पड़ेगा और वह बहुत दुःखदायी भी हो सकता है। इस तरह क्रोध से अनर्थों की श्रृंखला-सी शुरू हो जाती है। बौद्धों की गीता—'धम्मपद' में क्रोध-वर्ग' नाम से एक अलग अध्याय है। उसमें भगवान् बुद्ध ने कहा है कि शरीर, वाणी और मन इन तीनों की चंचलता को रोकना चाहिए। इन्हें संयत—काबू में रखना चाहिए। इनके द्वारा कोई बुरा कार्य न करके, तीनों से अच्छे-अच्छे काम करने चाहिएं।

क्रोधी व्यक्ति को शांत करने का उपाय क्रोध नहीं है। आग को शांत करने के लिए आग कोई नहीं जलाता। जैसे आग को पानी से शांत किया जाता है, वैसे ही क्रोध को अक्रोध से, क्षमा से शांत करना

चाहिए। तलवार वाले के साथ केवल तलवार से नहीं, तलवार और ढाल से लड़ा जाता है।

क्रोध में गर्जन-तर्जन आदि की क्रियाओं का एक उद्देश्य यह भी होता है कि दूसरा डर जाए। जिस पर क्रोध किया जा रहा है, वह डर जाए और झुक जाए, क्षमा मांग ले तो क्रोध शांत भी हो जाता है। प्रायः लोग अपने से दुर्बल लोगों पर ही क्रोध करते हैं। यदि शक्तिशाली लोगों पर क्रोध करें तो लेने के देने पड़ जाएं।

क्रोध आने के अनेक कारण हो सकते हैं। कई बार किसी अभिमानी व्यक्ति को नीचा दिखाना भी इसका उद्देश्य होता है। तब प्रायः लोगों को कहते सुना जाता है कि "बड़ा अकड़ता था। एक मिनट में सीधा हो गया।"

एक तरह के क्रोध में जहां दूसरे व्यक्ति को हानि पहुंचाना, अपमानित करना, कष्ट देना उद्देश्य होता है, दूसरे तरह के क्रोध में क्रोधी व्यक्ति अपने को ही हानि, या कष्ट पहुंचाता है। अपना सिर फोड़ लेता है, अपने बाल नोच लेता है या अपने को ही पीटने लगता है। ऐसा तभी होता है जब, जिस पर क्रोध किया जा रहा है, उसे इसके सिर फटने, आदि से कष्ट पहुंचने की संभावना हो।

कई बार क्रोधी व्यक्ति इतना बौखला जाता है कि जड़ वस्तुओं पर क्रोध उतारता है। एक व्यक्ति लिख रहा है। उसका पेन बार-बार स्याही गिराता है। वह क्रोध में पेन को तोड़ डालता है।

क्रोध अपना प्रभाव तुरत दिखाता है। कई बार क्रोध के समय व्यक्ति अपनी शक्ति से अधिक कार्य करते भी देखे जाते हैं।

क्रोध सदा बुरा ही नहीं होता। उसका अच्छा पक्ष भी है। जीवन में उसका अच्छा उपयोग भी किया जा सकता है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों द्वारा पहुंचाए गए बहुत-से कष्टों का प्रतिकार ही न कर सके। अनेक बार किसी निर्बल को सबल द्वारा सताया जाता देखकर भी क्रोध उमड़ जाता है। पापी और अत्याचारी के प्रति उमड़ा हुआ क्रोध हमें बुराई का विरोध करने की शक्ति प्रदान करता है।

वनवास के समय भगवान् श्रीराम ने जब ऋषि-मुनियों की हड्डियों का ढेर देखा तो अत्याचारी राक्षसों के प्रति उनका सात्त्विक क्रोध उमड़ पड़ा। शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्ण को अपमानजनक शब्द

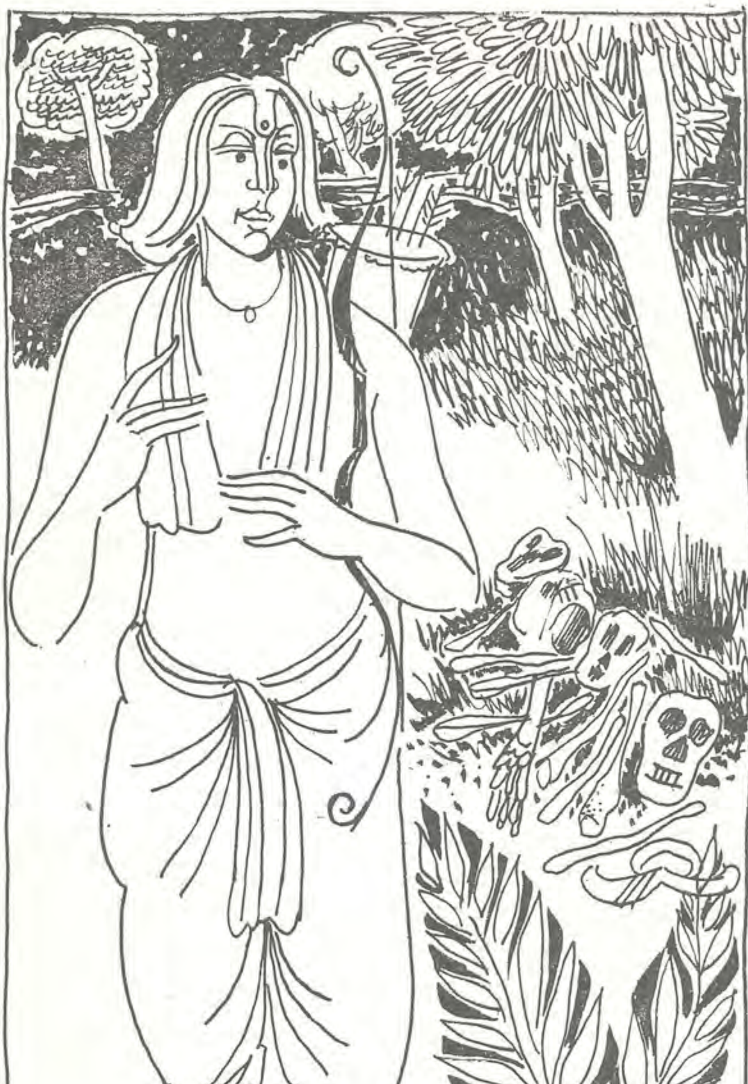

वनवासी राम ने ऋषियों की हड्डियों का ढेर देखा तो राक्षसों के प्रति उनका सात्त्विक क्रोध उमड़ पड़ा ।

कहता रहा। एक सीमा तक श्रीकृष्ण ने उसे कुछ नहीं कहा। किंतु जब अति हो गई तो उन्हें क्रोध आ गया, और सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट डाला। पीड़ित और दुखी लोगों की पीड़ा और दु:ख दूर करने के लिए जब दया उमड़ती है तो पीड़क और दु:खदाता के प्रति क्रोध जाग उठता है। क्रोध का यह रूप समाज के लिए उपयोगी भी है।

पराये दु:ख को दूर करने के लिए किया गया क्रोध निंदनीय नहीं है। भगवान् राम का राक्षसों पर क्रोध करना सात्त्विक तेज है। वह तामसिक पाप नहीं है।

क्रोध जब तुरत प्रतिकार किए विना हृदय में दुबककर बैठ जाता है तो वैर बन जाता है। वैर बड़ी देर तक चलता रहता है। कई बार तो पीढ़ियों तक चलता रहता है। दोनों पक्षों में से जब भी किसी-को अवसर मिलता है, दूसरे पक्ष को हानि पहुंचाने में कसर नहीं रखी जाती। वैर को क्रोध का अचार कहा जा सकता है जब किसी वस्तु का अचार डाला जाता है तो वह बहुत देर तक रखा जा सकता है और जब चाहें तभी निकालकर उपयोग में लाया जा सकता है। क्रोध भी जब वैर बन जाता है तो बड़ी देर तक चलता रहता है और बीच-बीच में एक-दूसरे को हानि पहुंचाने का प्रयत्न भी होता ही रहता है।

क्रोध से सबसे बड़ी हानि यह है कि चाहे यह दूसरे व्यक्ति का कुछ बिगाड़ सके या न बिगाड़ सके, पर अपनी हानि तो क्रोध आते ही हो जाती है। क्रोधी व्यक्ति पहले अपने-आपको जलाता है। चूल्हे पर रखे बर्तन में जब उफान आता है तो सबसे पहले उसके बाहरी भाग पर ही गिरता है। क्रोधी व्यक्ति दूसरे को हानि पहुंचाने से पहले अपनी हानि कर बैठता है। महात्मा बुद्ध का उपदेश है कि क्रोध को अक्रोध से जीता जा सकता है। जैसे आग को यदि पत्थरों पर फेंक दिया जाए तो वह बुझ जाती है, इसी तरह क्रोध का उत्तर क्रोध से न दिया जाए तो पहले वाले व्यक्ति का क्रोध भी शांत होने लगता है।

भगवान् कृष्ण कहते हैं : "जो व्यक्ति अभ्यास द्वारा, काम और क्रोध के वेग को सहने अर्थात् रोकने में सफल हो जाता है, वह सुखी रह सकता है।"

भगवान् कृष्ण के इस कथन का अभिप्राय ऐसा मालूम पड़ता है कि कारण उपस्थित होने पर काम और क्रोध नाम के विकार आपके

मन में पैदा होंगे ही । पर इन्हें मन में ही रोक रखा जाए और बाहरी शरीर से ऐसी कोई चेष्टा या प्रयत्न न किया जाए जो इन्हें बढ़ाने या प्रकट करने में सहायक हो । इस तरह अभ्यास द्वारा शरीर संयम से मन का संयम करने की शक्ति भी आएगी और काम-क्रोध के वेगों की पूर्ति न होने से ये मन पर आक्रमण करना छोड़ देंगे ।

बात यह है कि सबसे पहले मन में किसी बात या काम का विचार उत्पन्न होता है । बाद में मन इन्द्रियों को उस विचार को क्रियात्मक रूप देने की आज्ञा देता है ।

पुराणों में जहां सृष्टि की कथा आई है, वहां लिखा है कि प्रजापति ब्रह्मा ने सबसे पहले मानसिक सृष्टि की । उनके मानस पुत्रों ने इस सृष्टि को आगे बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न—क्रिया नहीं की । इस तरह यह मानस-सृष्टि असफल रही । तब ब्रह्मा जी ने दूसरे प्रकार की सृष्टि की । हम भी यदि मन में काम-क्रोध आदि मनोविकारों के आने पर उन्हें वाणी और शरीर की क्रिया द्वारा प्रकट न करें तो ये अपनी मौत आप ही मर जाएंगे । पर यह काम भी आसान नहीं है । शनैः-शनैः अभ्यास द्वारा ही यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है । बात यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह का जब वेग बढ़ता है तो सबसे पहले, अकल मारी जाती है और जब अकल साथ छोड़ जाती है तो पहले की सोची हुई सारी बातें भूल जाती हैं । जैसे नदी में बाढ़ आने पर बांध टूट जाते हैं, वैसे ही मन पर काबू पाने की हमारी सारी व्यवस्थाएं, योजनाएं बेकार हो जाती हैं ।

सबसे ऊंची और आदर्श स्थिति यह है कि मन में विकार पैदा करने वाले पर्याप्त कारण उपस्थित हों, फिर भी मन में विकार न आए । यह धीर-गंभीर पुरुषों का लक्षण है ।

उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति जंगल में तपस्या कर रहा है । वहां क्रोध करने के लिए कोई दूसरा व्यक्ति है ही नहीं । अब यदि यह तपस्वी समझने लगे कि मैंने क्रोध को जीत लिया है तो यह समझना भूल होगी । संसार में सभी तरह के लोगों के बीच रहते हुए, मूर्खों और दुष्टों से पाला पड़ने पर भी यदि क्रोध न आए तभी समझना चाहिए कि क्रोध को जीत लिया । जिस व्यक्ति को जीवन में कभी बेईमानी करने का अवसर ही नहीं मिला, उसके ईमानदार होने का विशेष महत्त्व नहीं है । हां, आपकी जेब में रुपये डाले जा रहे हों और

आप लेने से इन्कार कर दें, तो यह आपकी ईमानदारी का प्रमाण होगा। सोने की परीक्षा उसे कसौटी पर रगड़कर, आग में तपाकर और काटकर ही होती है। तभी तो कहते हैं कि हर चमकने वाली चीज़ सोना नहीं होती। चमक ऊपरी भी हो सकती है, मुलम्मा भी हो सकता है। पर काटने पर सचाई सामने आ ही जाएगी।

हमने पहले कहा है कि जब कोई बात मन के अनुकूल नहीं होती या मन के प्रतिकूल होती है तो क्रोध आता है। बड़े भाई की बात छोटा भाई नहीं मानता है तो बड़े भाई को क्रोध आता है। पिता की बात पुत्र नहीं मानता है तो पिता को क्रोध आता है।

अब ज़रा सोचें कि आपका अपना शरीर आपका अपना मन और आपकी अपनी वाणी क्या आपके वश में है ? क्या ये तीनों आपकी सारी बातें मानते हैं। मैं कहना चाहूंगा, नहीं मानते। क्या आपने लोगों को यह कहते नहीं सुना है कि "मेरा मन नहीं मानता।"

"क्रोध में यह बात मेरे मुंह से निकल गई।"

"अब मुझसे आगे नहीं चला जाता। टांगें जवाब दे गई हैं।"

ऊपर के तीनों वाक्य क्रमशः मन, वाणी और शरीर की ऐसी अवस्थाओं को दर्शाते हैं जो हमारी इच्छा के विपरीत हैं।

यह कभी संभव नहीं है कि सारे काम हमारी इच्छा के अनुकूल हों। दूसरों की भी तो अपनी इच्छाएं हैं। आप अपनी इच्छा की पूर्ति चाहते हैं तो दूसरे भी अपनी इच्छा-पूर्ति करना चाहते हैं। जहां टकराव की स्थिति आती है, संघर्ष की स्थिति आती है, वहीं गड़बड़ी पैदा होती है इसलिए ध्यान रखिए, आपके अधिकारों की सीमा वहीं तक है जहां तक दूसरों की अधिकार सीमा प्रारंभ नहीं होती।

अक्रोध वीरों का गुण है, डरपोकों का धर्म नहीं।

माता-पिता और गुरुजन बेटे-बेटियों और शिष्यों पर क्रोध करते देखे जाते हैं, इस क्रोध के बारे में भी समझ लें। यह क्रोध ममत्व, हितकारक और सद्‌गुणों की प्रेरणा देने के लिए होता है। जिस पर क्रोध किया जा रहा है, उसे हानि पहुंचाना, उसका बुरा चाहना जैसे क्रोध के लक्षण इस क्रोध में नहीं होते। इन्हीं कारणों से यह क्रोध वास्तविक न होकर क्रोध का दिखावा मात्र होता है।

संतों ने क्रोध की खूब निंदा की है। महात्मा कबीर कहते हैं :

कोटि करम लागे रहें, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया हंकार॥
दसों दिसा से क्रोध की, उठी अपरबल आग।
सीतल संगत संत की, तहाँ उबरिये भाग॥
कुबुधि कमानी चढ़ि रही, कुटिल बचन का तीर।
भरि-भरि मारै कान में, सालै सकल सरीर॥
जहाँ दया तहाँ धरम है, जहां लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहां क्षमा तहँ आप॥

●